ॐ

श्रीक्रमनय-प्रदीपिका

(हिन्दी व्याख्या संवलित)

ईश्वरपर्वतनिवासिना राजानकलक्ष्मणेन संपादिता

गुप्तगंगा काश्मीर

ॐ
श्रीक्रमनय प्रदीपिका
(हिन्दी व्याख्या संवलित)

ॐ

श्रीक्रमनयप्रदीपिका।
ईश्वरपर्वतनिवासिना
राजानकलक्ष्मणेन संपादिता
गुप्तगंगा काश्मीर
ई.१९५८ विक्रम सं.२०१५

प्रकाशक
श्रीअरुणकृष्ण जोशी
एवम्
श्रीविजयकृष्ण जोशी

पुनर्मुद्रण - 2004

पुस्तक प्राप्ति स्थान
आर.वी. जोशी एण्ड ब्रदर्स
नीचीबाग, वाराणसी।
दूरभाषः २३३३२६८ (दुकान)
२३६१६४७ (निवास)

मुद्रकः-
प्रत्यभिज्ञा प्रेस
वाराणसी

मूल्य- ४० /- रूपये मात्र

सर्वज्ञो यो गुरुः साक्षाच्छिवो लक्ष्मण एष सः।
यत्पादरजसा पूतो मादृशोपि शिवायते ।।१।।
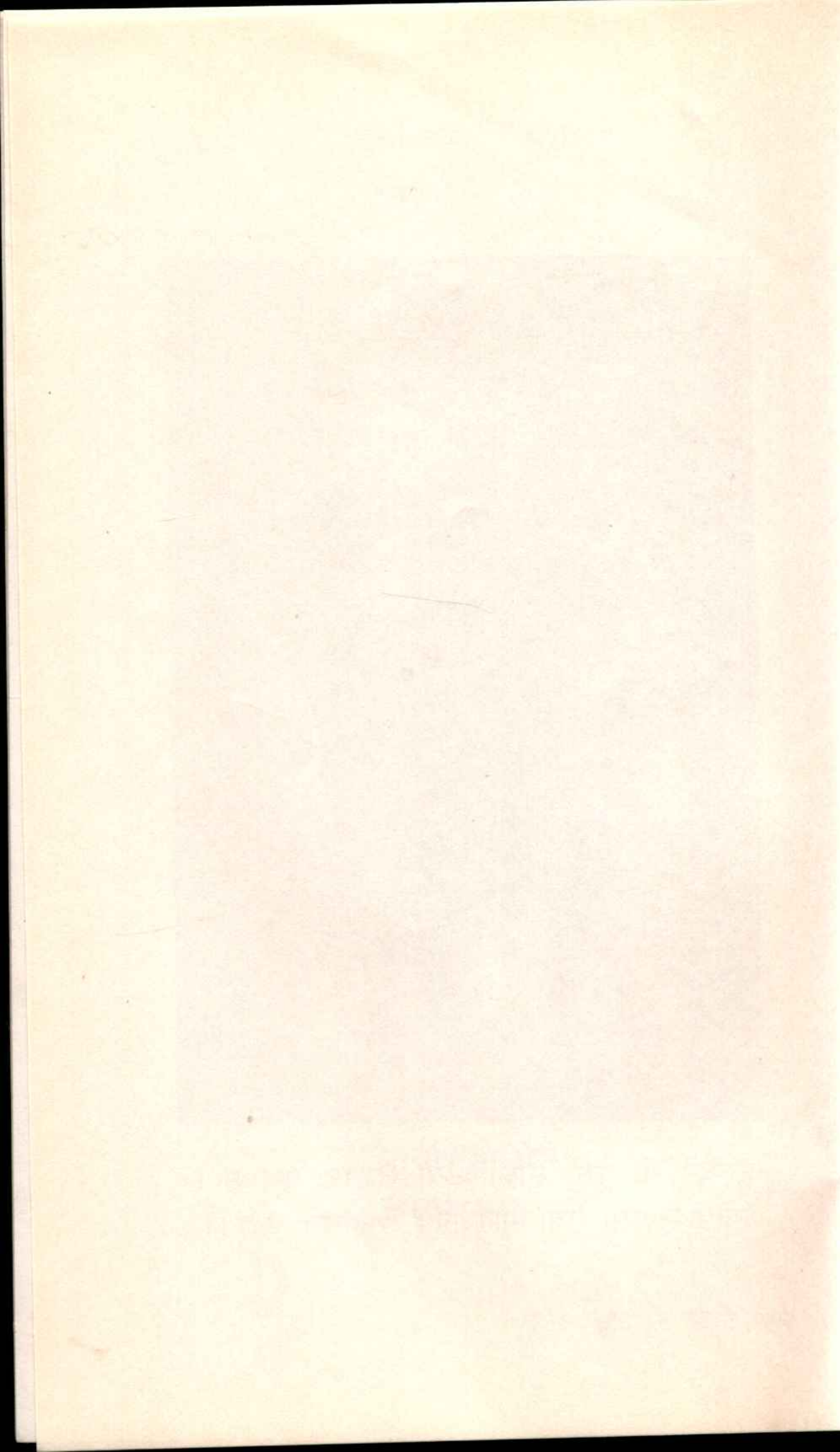
यस्य श्रीकृपयैवास्मि
सदानन्दः, सनातनः ।
तमहं श्रीगुरुं वन्दे
लक्ष्मणं बोधविग्रहम् ।।२।।

गुरुं स्मरन् स्तुवन्नेव
वैश्वरूप्यं निजं दधत् ।
महाश्चर्यचमत्कृत्या-
क्रान्तो भामि नमामि च ।।३।।

प्रभावं श्रीगुरोः पश्यन्
विस्मयाविष्टमानसः
श्रृणोमि स्वमुखोद्भूतां
कीदृशी महिमा गुरोः ।।४।।

सर्वाद्वैतपदासीनः सर्वद्वैतविभासकः
जयताच्छ्रीगुरुर्लोके शिवाद्वैतप्रदो मम ।।५।।

रामेश्वरस्य

प्राक्कथन

आचार्य अभिनवगुप्तजी द्वारा रचित श्रीतंत्रालोक में बारह कालियों का वर्णन अतिरहस्य–पूर्ण रीति से किया गया है। इस ग्रन्थ के चौथे आह्निक यानी शाक्तोपाय में यद्यपि ग्रन्थकार ने इस विषय पर एक विशद प्रकरण की रचना की है, तथापि विषय के गम्भीर होने के कारण प्रायः जिज्ञासु–जन उसे समझने से वञ्चित ही रहते हैं। हम ने दयालु गुरुमहाराज की छत्र–छाया में बैठ कर कई बार इस प्रकरण को पढ़ा सोचा तथा मनन भी किया, किन्तु फिर भी इन बारह कालियों का महत्त्व, इनकी उपयोगिता एवं इनका वास्तविक मर्म क्या है? यह न समझ पाये। कई वर्षों से महाराज जी से इस विषय को पूर्णतया समझाने की प्रार्थना करने पर भी हमारी प्रार्थना कभी फलीभूत न हो पाई।

अस्तु, पिछले वर्ष यानी १९५८ ई० के शिशिर ऋतु में महाराज जी ने अकस्मात् मौनव्रत करने का निश्चय किया। वे लगभग ढाई मास एकान्त वास में रहे। इसी समय के प्रथम बीस दिनों में महाराज जी ने हम लोगों के हितार्थ इस अपूर्व तथा उपयुक्त ग्रन्थ की रचना की है।

यह तो मानी हुई बात है कि कश्मीर देश सदा से महान् शैवी महात्माओं को जन्म देता आया है। वे महात्मा न केवल शास्त्रज्ञ ही थे, अपितु पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठ भी थे। ऐसी महान् विभूतियों ने भी कभी कदापि इस विषय की सविस्तृत व्याख्या करने का प्रयास न किया। वे केवल–मात्र स्वयं पाठ के रूप में इन बारह कालियों के श्लोकों को पढ़ा करते थे और शिष्यों को भी इस का पाठ करने की शिक्षा

दिया करते थे। अत: फल यह हुआ कि इन द्वादश कालियों का महत्त्व केवल–मात्र इने–गिने शैवी पाठकों तक ही सीमित रहा।

महाराज जी ने इस महत्त्व–पूर्ण विषय के लुप्त होने की आशंका से इस सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। अत: महाराज जी की अपूर्व कृपा से यह ग्रन्थ शैवी जिज्ञासु–जनों की उत्कट जिज्ञासा को शान्त करता हुआ उन महानुभावों के सन्मुख उपस्थित हो रहा है, जो किसी भी अंश में शिव–शक्तिपात से आघ्रात बने हुए हैं।

इस छोटे से ग्रन्थ में प्रथम काली शब्द का निर्णय, उस की व्याख्या और उस का वास्तविक तात्पर्य समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस के साथ ही श्रीतन्त्रालोक में कहे गये उन श्लोकों का भी समावेश हुआ है, जो कालिका–स्तोत्र के प्रकरण में वर्णित हुए हैं। उन श्लोकों का भी हिन्दी अनुवाद किया गया है। इस के अतिरिक्त प्रथम–प्रकाश ; द्वितीय–प्रकाश और तृतीय–प्रकाश का शीर्षक रखकर इसके साथ ही प्रथम–विकास, द्वितीय–विकास आदि के शीर्षक रक्खें हैं ऐसा करने का प्रयोजन यही है कि वास्तव में श्रीसंविद्देवी का ही विकास काली भगवती के रूप में विकसित हुआ है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ की सार्थकता एवं उपयोगिता का तभी परिचय मिल सकता है, जब इस के पाठक इस के अध्ययन से अंश–मात्र भी आत्मिक लाभ उठा सकेंगे, तभी महाराज जी का यह प्रयास भी सार्थक सिद्ध होगा। ॐ।

विद्वज्जनकृपाभिलाषिणी
प्रभा देवी

ईश्वराश्रम
२० मई १९५९।

आमुख

ऋषि-मुनियों की तपःस्थली भारत का सर्वोच्च भूखण्ड प्रदेश काश्मीर है। जहाँ पर अनेक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा, योगी तथा शास्त्रमर्मज्ञ ज्ञानी हुए हैं, जो समय-समय पर दिग्भ्रमित-संतप्त विश्वमानवों का पथ-प्रदर्शन कर अपनी ज्ञान-प्रभा से आप्यायित करते रहे हैं।

उसी परम्परा में ईश्वर स्वरूप स्वामी श्रीलक्ष्मण जूदेव जी महाराज का आविर्भाव हुआ था। आप आजन्म मोक्षलक्ष्मी से समालिंगित थे। आप हम लोगों के परम गुरु हैं। आप अपने गुप्त गंगा-समीपस्थ ईश्वर आश्रम में देश-विदेश से आने वाले अनेक जिज्ञासु-जनों को अपनी नैसर्गिक कृपाभिवर्षिणी-दृष्टि मात्र से अकलुषीकृत कर स्वात्म-प्रेम की प्रत्यभिज्ञा कराते थे।

इस दिव्य ज्ञानप्रसार के समय यद्यपि मेरी बाल्यावस्था थी, तथापि मैं अपने गुरु महामहोपाध्याय पं.श्रीरामेश्वर झा जी की ज्ञान रश्मि से अभिसिञ्चित होता रहा। जिसके फलस्वरूप आज भी मेरी ज्ञान-मार्ग में उन्मुखता बनी हुई है।

हम लोगों को अनायास ही विदित हुआ कि श्री ईश्वर स्वरूप जी महाराज की सच्छिष्या श्री प्रभादेवी जी दिल्ली आयी हुई हैं। शिवेच्छावश उनसे मिलने की इच्छा हुई। हमलोग (मैं तथा पं. आचार्य श्री जीवेश झा जी) उनसे मिलने हेतु दिल्ली गये। दिल्ली के अत्यन्त निकट ''फरीदाबाद'' (हरियाणा) में श्री देवीजी का दर्शन हुआ। यद्यपि दर्शन तो प्रथम ही था; किन्तु परिचय बहु-पुरातन प्रतीत हुआ।

उनके साथ वार्त्ता के क्रम में आचार्य श्री जीवेश झा जी ने ''द्वादश काली स्तोत्र'' के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासा व्यक्त की।

जिसके प्रत्युत्तर में श्री देवीजी ने परमपूज्य श्री ईश्वर स्वरूप जी द्वारा सम्पादित "श्रीक्रमनय प्रदीपिका" ग्रन्थ की हस्तलिखित पुस्तिका प्रदान की। तत्पश्चात् उन्होंने इस अप्राप्य ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण का आदेश दिया।

इस स्तोत्रात्मक ग्रन्थ में संविद्भगवती की विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दशा का उभयविध संकोच तथा विस्फारात्मक क्रम-क्रीड़ा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण किया गया है।

परम पूज्य श्री ईश्वर स्वरूप जी महाराज ने- काली, काल अर्थात् "क्रम" पर विशेष प्रकाश डालते हुए अपनी अनुभूति परक विश्लेषण तथा स्तोत्रानुवाद करके इसे भक्तजनों के हितार्थ अतिसुगम तथा सरल बना दिया है।

आशा है कि पूर्व संस्करण की तरह इस नवीन संस्करण से भी सहृदय पाठकों को अवश्य ही लाभ होगा।

इति शिवम्

उमेश जोशी
एम.ए. (दर्शन-शास्त्र)
बी.एच.यू.,वाराणसी

ओं

श्रीक्रमनयप्रदीपिका

प्रथम प्रकाश

अव्ययमकुलममेयं
विगलितसदसद्विवेककल्लोलम्।
जयति प्रकाशविभव-
स्फीतं काल्याः परं धाम ।।१।।

काली भगवती का जो परमतेज अविनाशी है, विश्वात्मा होने के कारण जिसका कोई रूप नहीं हैं, प्रमातृरूप होने से जो किसी भी अवस्था में प्रमेय नहीं बनता, तथा जिस तेज में सद्रूपता एवं असद्रूपता का आभास संपूर्ण रूपतया समाप्त ही हुआ है, वही प्रकाशविमर्शरूप से स्फुट बना हुआ काली देवी का परमतेज जयनशील हो।।

ओं
श्रीकालिकाभगवत्यै नमो नमः।
ओं परभैरवाय नमः।
श्रीमहागणेशाय नमो नमः

प्रस्तुत विषय को प्रारम्भ करने से पूर्व जिज्ञासुजनों के हितार्थ यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि इस कालिका शास्त्र को क्रमशास्त्र भी क्यों कहते हैं। वास्तव में शैवसिद्धान्त के आधार पर क्रम, काल का ही

पर्यायवाची शब्द है। प्रत्यभिज्ञाकार श्रीमान् आचार्य उत्पलदेव जी ने 'काल' की परिभाषा इस रीति से की है–

काल: सूर्यादिसञ्चार:
तत्तत्पुष्पादिजन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्य:
क्रम एव सतत्त्वत:।।

अर्थात् सूर्य आदि नक्षत्रों का सञ्चार, या वसन्त आदि ऋतुओं में उन भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों का जन्म लेना आदि- इस प्रकार के परिवर्तन को काल माना गया है। इस के अतिरिक्त कभी शीतकाल का होना, और कभी उष्णकाल का होना भी काल को ही दर्शाता है। तत्त्वदृष्टि से काल **क्रम** को ही कहते हैं। एवं काल के संबन्ध में जितने भी नय यानी शास्त्रों की रचना रची गई है, उन्हें कालीशास्त्र या क्रमशास्त्र के नाम से विभूषित किया गया है। अत: इसी रीतिं का अनुसरण करते हुए इस छोटे से ग्रन्थ का नाम भी **क्रमनयप्रदीपिका** ही रक्खा है। कारण यह कि इस में पाठकों के सुविधार्थ कालीशास्त्र पर विशेषरूप से प्रकाश डाला जायेगा। अब प्रस्तुत कथन का श्रीगणेश करते है।

क्रमनय-प्रदीपिका।

प्रथम-प्रकाश।

'काली' शब्द कल धातु से बना है। इस धातु का अर्थ पूर्व–कालीन आचार्यों ने निम्नलिखित पाँच अर्थों में प्रयुक्त किया है–१ कल क्षेपे । २ कल गतौ (ज्ञाने) ३ कल संख्याने । ४ कल गतौ (प्राप्तौ च)। ५ कल शब्दे।।

१ कल क्षेपे

प्रथम–क्षेप अर्थ में कल शब्द को लीजिये। क्षेप का अर्थ फेंकना है। यहाँ फेंकना क्या माने रखता है। इसको स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं–

> "कलयति-स्वात्माभेदेन स्थितं प्रमातृ-
> प्रमाण प्रमेयरूपं विश्वं बहिर्भविनोल्लास-
> यतीति काली-इत्युच्यते"।

अर्थात् अपने ही स्वरूप में स्थित-प्रमातृप्रमाण प्रमेय-रूप जगत् को, जो अपने स्वरूप से बाहिर यानी भिन्न-रूपता से दिखाती है-उसे काली कहते हैं।

अतः इस प्रथम अर्थ के आधार पर "काली" परसंविद् देवी का ही पर्य्यायवाची शब्द माना जाता है।

२ कलगतौ (ज्ञाने)

कल धातु ज्ञान के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। ज्ञान से यहां क्या तात्पर्य है—इस विषय पर यूँ कहा जा सकता है—

कलयति-स्वात्मबहिर्भावेनावाभा-
सितमपीदं मातृमानमेयात्मकं जगत्
स्वात्माभेदेनैव परामर्शतीति परैव
संविद्देवी काली-इत्युच्यते।

अर्थात् अपने स्वरूप से भिन्न भासित बने हुए जगत् को भी जो अपनी ही अनर्गला स्वातन्त्र्यशक्ति से (पुन:) स्वस्वरूपमय ही परामर्श करती है काली कहलाती है। अत: इस दूसरे अर्थप्रकार से भी परसंविद्देवी ही काली कही जा सकती है।।

३ कल संख्याने

कलधातु का तीसरा अर्थ संख्यान यानी विकल्प करने के रूप में ग्रहण किया जाता है। अब यहां किस प्रकार के विकल्प से प्रयोजन है— इस को स्पष्ट शब्दों में समझाते हैं—

"एवं कलयति— भेदितमपि मातृमेयादिक
जगद्रूपमर्थं परस्परापोहनात्"—अयं घट: न पट:
इति प्रतिनियतरूपतया अवस्थापयति—इति
परैव चिल्लहरी संवित्—काली—इत्युच्यते।"

अर्थात् इसी भांति जो प्रमातृ प्रमेयादिरूप बने हुए जागतिक समूह को अपने ही स्वातन्त्र्य से स्वरूप से विलग ठहरा कर पुन: एक दूसरे

के ज्ञान से भी वंचित रख कर नियतरूपतया यानी ''यह पदार्थ घट ही है पट नहीं,,– इस प्रकार का नियमन करती है। वह भी परा संविद् भगवती के रूप में ही काली कही जाती है।

४ कलगतौ (प्राप्तौ च)

चतुर्थ अर्थ कलधातु का, प्राप्ति के अर्थ में लागू होता है। प्राप्ति को दूसरे शब्दों में रूढ होना या पहुँचना भी कह सकते हैं। यह प्राप्ति क्या है-इस को सुव्यक्तरूप से कहते हैं-

''कलयति—यया मातृमानमेयात्मको भेदितोऽर्थः स्वसंवित्तिमकुरे स्वात्मव्यतिरिक्तत्वेऽपि अव्यतिरेकेण स्वरूपारोहितत्वेनैवावस्थापयतीति परा कालसंकर्षिणी देवी काली—इत्युच्यते,,।

अर्थात् जो स्वात्मदर्पण में भेदप्रथारूप जगत् के भिन्न होने पर भी पुनः उस जगत् को अभिन्न यानी स्वात्मरूपतया ही संस्थापित करती है—वही कालसंकर्षिणी संविद् भगवती काली कही जाती है।

५ कल शब्दे

अब पाँचवां अर्थ कलधातु का ''नाद करना,,- इस अर्थ में लिया जाता है। नाद से क्या तात्पर्य हो सकता है—
इस को समझाते हैं–

'कलयति—समस्तानामविकल्प-

सविकल्पादीनां ज्ञानानां सृष्टिस्थिति-
संहारपिधानामनुग्रहात्मकपञ्चकृत्यत्वा-
नुसंधानेन स्वात्मपरामर्शशेषतयैव
सर्वं परामृश्यतीति परैव संवित्
काली–इत्युच्यते।

यानी जो अप्रतिहता पराभगवती निर्विकल्प तथा सविकल्प समग्र ज्ञान का परामर्श पाँचकृत्य (सृष्टि–स्थिति–संहार–पिधान और अनुग्रह) के रूप में करके, तदनन्तर उस संपूर्ण ज्ञान को अपनी ही स्वरूप–परामर्शात्मिका तुरीय–सत्ता में लवलीन बनाती है। वही काली नाम से अलङ्कृत की जाती है।

तात्पर्य कहने का यह है कि–

"इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा।
देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते।।

इस तंत्रालोक के उपदेश के अनुसार उपरोक्त पांच प्रकार की कलना को करने वाली यही कालकर्षिणीरूपा परासंविद् भगवती काली देवी कहलाती है।

"मातृसद्भावसंज्ञास्या-
स्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु।
एतावदन्तसंवित्तौ
प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत्"।। तं०श्लो० ४ ।।१७७।।

इसी काली भगवती को ''मातृसद्भाव,, इस अन्य नाम से भी विभूषित किया गया है। कारण यह कि इसी काली देवी की सत्ता का आश्रय लेने से समस्त भाववर्गात्मक जगत् की प्रमातृता अर्थात् ज्ञप्ति का भान स्फुट बन जाता है। निशाटन आदि शास्त्रों में इसे 'वामेश्वरी, का नाम–करण दिया गया है, यत: यही देवी सर्वसंहरणात्मक अपने रौद्र अर्थात् भयंकर क्रम को त्याग कर सर्व–आह्लादप्रद क्रम को ग्रहण करने के कारण वामेश्वरी यानी त्रिपुरसुन्दरी के रूप में प्रकाशित है।

ऊपर वर्णित पांच प्रकार की कलना से संपन्न बनी हुई इस काल संकर्षिणी काली भगवती की दो अवस्थायें मानी गई हैं। पहिली अवस्था वह है, जहां इसे अपने स्वरूप का संकोच रहता है। इस स्वरूपसंकोचात्मक दशा में इसे ''अनाख्यरूपा,, नाम से ही वर्णित किया है। स्मरण रहे कि यह अनाख्य एवं स्वरूप–संकोचमय दशा एक ही है। इस अवस्था की प्राप्ति पर अणु–मात्र भी द्वैत की संभावना नहीं रहती। इसी को दूसरे शब्दों में विश्वोत्तीर्ण अवस्था भी कहते हैं।

इस काली भगवती की दूसरी अवस्था ''स्वरूपविकासात्मक,, कही गई है। इस दशा में स्वरूपप्रथनात्मक स्थिति होते हुए भी जगद्वर्त्ती सभी भेद तथा उपभदों की उत्पत्ति होती रहती है। शास्त्रों में इसी अवस्था को 'विश्वमय, के नाम से वर्णित किया है।

यद्यपि हमारे पूर्व आचार्यों का यह कथन अक्षरश: सत्य है कि उपरोक्त दोनों अवस्थाओं के स्वरूप–चमत्कार में नाम–मात्र भी न्यूनाधिक्य नहीं रहता, तथापि शैव–आचार्यों ने स्वरूपविकासात्मक विश्वमय अवस्था को ही सर्वोपरि माना है। इस कथन की पुष्टि पञ्चस्तवी के निम्नलिखित श्लोक से भी होती है–

''संकोचमिच्छसि यदा गिरिजे तदानीं

वाक्तर्कयोस्त्वमसि भूमिरनामरूपा।
यद्वा विकासमुपयासि यदा तदानीं
त्वन्नामरूपगणनाः सुकरीभवन्ति''॥

अर्थात् हे पार्वती! जब आप अपने स्वरूप का संकोच करना चाहती हैं, तब आप का स्वरूप अनुल्लेख्य हो जाता है, यानी नाम रूप की कलना से अतीत बन जाता है। साथ ही वह स्वरूप वाणी एवं मन का विषय न बन कर उस से दूर बहुत दूर चला जाता है इस के उलट जब आप अपने स्वरूपविकासात्मक अवस्था को प्राप्त करती हैं, तो उस दशा में ध्यान करने से भक्त-जन आप के स्वरूप को सहज ही प्राप्त करते हैं।

अस्तु परासंविद्देवी की यही विश्वमय स्वरूपविकासात्मक दशा कुल बारह स्वरूपों में विभक्त हुई है। ये ही काली भगवती के बारह समस्त विश्ववर्ती स्वरूपों के द्योतक हैं। तथा इन्हीं से काली देवी की असंख्यरूपता का अनुमान भी लगाया जाता है॥

द्वितीय–प्रकाश

अब शंका यह होती है कि काली भगवती की जगद्रूपता को सिद्ध करने के लिये केवल बारह रूप ही क्योंकर माने गये हैं, तेरह या ग्यारह क्यों नहीं माने हैं। इसका समाधान शास्त्रकार इस रीति से करते हैं–

उनका कहना है कि वास्तव में जगद्रूपता निम्नलिखित कुल चार ही वर्गों में विभक्त हुई है–
प्रमितिवर्ग, प्रमातृवर्ग, प्रमाणवर्ग और प्रमेयवर्ग।

(१) प्रमितिवर्ग उस प्रमातृवर्ग को कहते हैं, जो ग्राह्य और ग्राहकभाव से अतीत हो। और साथ ही-

"ज्ञातोऽयं मयार्थः,,

इस कथन के अनुसार प्रमाणफलदशाधिशायी बना हुआ हो। यह अवस्था ग्राह्यग्राहकसंक्षोभशून्य केवल अपने ही अनुपहित (प्रमेय द्वारा) स्वरूप में प्रकाशित होती है। दूसरी दृष्टि से यही अवस्था जगद्रूपता का प्रथमाङ्कुर है। इसी के प्रसरणात्मक वेग से जगत् के प्रकट होने की संभावना होती है। इस अवस्था में प्रमाता संपूर्णरूपतया प्रमा में ही विलीन बना हुआ रहता है। इस प्रमितिवर्ग को चतुर्दल–चक्र भी कहते हैं। क्योंकि इस में नीचे दिये गये कुल चार चक्र माने गये हैं–
देवीत्रय–(परा, परापरा, अपरा) और मातृसद्भाव। मातृसद्भाव कहने का यही प्रयोजन है कि इस अवस्था में उपरोक्त तीन परा आदि देवियां तो शक्तिरूपतया स्थित हैं ही, किन्तु इनके साथ ही शिवरूप पर प्रमाता भी शक्ति–रूप बन कर ही ठहरा है। इस दशा में वह शिव अपने शक्तिमत्त्वात्मक विकास को नहीं प्राप्त होता है। इसी लिये इस चतुर्दलचक्रात्मक प्रमिति– वर्ग को अनाख्यरूप भी कहते हैं।

(२) जब यह प्रमातृवर्ग जगद्रूपता की स्थूलता में प्रसर करता है, तब यह अपने उद्गमस्थान बने हुए प्रमितिवर्ग को लेकर ही प्रसरित होता है। इसी आशय से उत्तरत्र वर्गों की कलायें पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक बढ़ने लगती हैं। इसी प्रमातृवर्ग में समस्त प्रमाताओं का समूह, जागतिक भोगों को भोगते है; जो भोग, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के रूप में विद्यामान हैं। यह प्रमातृवर्ग अग्नि का रूप माना गया है। कहा भी है–

"योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं

प्रमातुरिदमेव तत्,,।

अर्थात् अग्नि का जो स्वरूप माना जाता है, वही प्रमाता का स्वरूप भी माना गया है। अत: अग्नि और प्रमाता में तिल–मात्र भी अन्तर् नही है। कलाओं की दृष्टि से अग्नि की आठ कलायें मानी गई हैं। ये ही आठ कलायें प्रमाता की भी मानी जाती हैं। ये आठ कलायें अपन्ने ही प्रमातृरूप में ठहरने के हेतु संहार–प्रधान मानी गई हैं। उन आठ कलाओं के नाम ये हैं–

प्रमितिवर्ग जिस का नामान्तर अनाख्य–चक्र भी है; उस से प्रसरित हुआ देवीत्रय और मातृसद्भाव। इस प्रमातृवर्ग में कुलेश्वरी और देवीत्रय के रूप में परिणत हुआ है। इस के साथ ही प्रमातृवर्ग का भैरवत्रय और कुलेश्वर। ये ही कुल आठ कलायें बनती हैं। पाठकों की सुविधा के लिये इन के नाम और भी स्पष्ट रूपता से नीचे लिखे जाते हैं–

देवीत्रय–परा, परापरा,अपरा।

''कुलेश्वरी;–जिसे मातृसद्भाव भी कहते हैं।

भैरवत्रय– पर, परापर, अपर, और कुलेश्वर।

उपरोक्त प्रमातृवर्ग संहारचक्र में आठ कलाओं का अन्तर्भाव होने से इसे अष्टारचक्र कहते हैं।

(३)

इस प्रमाण–वर्ग में समस्त इन्द्रियगण अंगीकार किये जाते हैं। ये ही इन्द्रियां शब्द आदि जगत्–संबन्धी भोगों के भोगने में साधन बनी हुई हैं। वास्तव में इन इन्द्रियों की गणना भी बारह मानी गई है। जिनके नाम ये हैं-

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि। अस्तु, इस प्रमाण- वर्ग

को शास्त्रकारों ने सूर्यात्मक माना है। कहा भी है-

''सूर्यं प्रमाणमित्याहुः,,

यानी सूर्य ही प्रमाण कहलाता है। कारण यह कि सूर्य की कलायें बारह मानी गई हैं, और उधर ऊपर वर्णित प्रमाण की भी बारह कलायें कही गई हैं। ये कलायें स्थिति–प्रधान मानी गई हैं; क्योंकि ये अपने आन्तरिक एवं बाह्य स्वरूप में विकास–पूर्ण बनी रहती हैं। इस प्रमाणवर्ग के स्थितिचक्र में प्रमिति तथा प्रमाता की अपनी-अपनी चार कलाओं का भी संमिश्रण रहता है। अत: इस रूप से भी कलायें मिलाकर कुल बारह ही बनती हैं। इन का विवरण निम्नप्रकार से है–

प्रमितिवर्ग (अनाख्य चक्र) की चार कलायें, यानी अव्यक्त देवीत्रय और मातृसद्भाव।

प्रमातृवर्ग (संहार–चक्र) की चार कलायें यानी भैरव–त्रय और कुलेश्वर।

तथा प्रमाणवर्ग (स्थिति चक्र) की भी चार कलायें यानी व्यक्ताव्यक्त देवी–त्रय और मातृसद्भाव।

संकलन करने पर ये कलायें बारह बनती हैं। अत: इस प्रमाणवर्ग रूपी स्थितिचक्र को द्वादशारचक्र भी कहते हैं।

(४) चौथे प्रमेयवर्ग की इस श्रेणी में, सभी प्रकार के विषय, जिनकी उपलब्धि शब्द, स्पर्श आदि में पाई जाती है, अंगीकृत किये गये हैं। इन्हीं शब्दादि विषयों का आस्वादन प्रमाण–दशा में प्रमाता करता है। इस प्रमेय–वर्ग को सोम–रूप माना गया है। कहा भी है–

''सोमं मेयं प्रचक्षते,,

अर्थात् चन्द्रमा ही प्रमेय कहलाता है। जहाँ सोम की सोलह कलायें मानी जाती हैं, वहाँ प्रमेय को भी षोडशकला का नाम–करण दिया जाता है। इस रूप से ठहरी हुई प्रमेय–संबन्धि ये सोलह कलायें

अपनी चरम–सीमा तक विकास को प्राप्त करके बाह्य–प्रसर की समाप्ति कर देती हैं। अत: सृष्टि के विकास की पार्य्यन्तिक सीमा होने के कारण इस प्रमेय–भूमि को सृष्टि प्रधान ही माना गया है।

इस प्रमेयवर्ग में–प्रमिति, प्रमातृ और प्रमाणवर्ग की चार चार कलाओं का विकास भी बना ही रहता है। इन बारह कलाओं के अतिरिक्त प्रमेयवर्ग संबन्धि–व्यक्त देवी–त्रय और मातृ–सद्भाव–इन चार कलाओं का उदय भी होता ही है। अत: इस प्रमेय–वर्ग अथवा (सृष्टि चक्र) में कुल सोलह कलायें बनती हैं। इसी लिये इसे षोडशारचक्र भी कहते हैं।

इस प्रकार से कलाओं के न्यूनाधिक्य को देख कर पाठक–जन इन के वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का भी अन्तर न मानें। कारण यह कि तथ्यरूप से इन तीनों वर्गों का स्वरूप वास्तव में एक ही है। केवल–मात्र अन्तर इतना ही है कि प्रमिति–वर्ग में ये कलायें अव्यक्तरूप से स्थित हैं प्रमाणवर्ग में व्यक्ताव्यक्त हैं और प्रमेयवर्ग में व्यक्तरूप मानी गई हैं। इन तीन वर्गों में प्रमातृ–वर्ग की गणना इस लिये नहीं की गई, क्योंकि उस में शक्तिप्रधानता नहीं है, तभी तो प्रमातृगत चार कलायें–भैरवत्रय और कुलेश्वर–इस प्रकार पुंलिङ्ग में ही कही गई हैं।

अस्तु; उपरोक्त कथन पर पुन: विहंगम दृष्टि दौड़ाते हुए यह बात सिद्ध हुई कि संविद्रूप काली देवी की जो स्वरूपविकासमय दशा है, वही जगद्रूप बनकर हमारे संमुख उपस्थित है। वह जगत् भी उपरोक्त कथनानुसार प्रमिति–प्रमातृ–प्रमाण और प्रमेय–इन चार वर्गों में विभक्त हुआ है।

स्मरण रहे कि प्रमितिवर्ग–चतुर्दल, प्रमातृवर्ग–अष्टदल, प्रमाणवर्ग–द्वादशदल और प्रमेयवर्ग षोडश–दलचक्र से युक्त माना गया है। इसके साथ ही यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि इन चार वर्गों

में से पहिला प्रमितिवर्ग स्वरूपविकास—दशा का प्रथमाङ्कुर माना गया है इत्यत: इस वर्ग में जगद्रूपता मनाग्मात्र भी प्रादुर्भूत नहीं हुई है।

अब प्रश्न यह है कि जो प्रमातृ, प्रमाण तथा प्रमेयरूप अवशिष्ट तीन वर्ग हैं, उन की गणना संसार—चक्र में क्यों कर नहीं की गई है। केवल—मात्र प्रमाणगत द्वादशदलात्मक चक्र की ही प्रधानता संसार—दशा में क्यों मानी गई है, जब कि प्रमातृगत अष्टारचक्र और प्रमेयगत षोडशारचक्र भी जगद्रूपता का ही प्रदर्शन करती हैं। अत: देवी की जगद्रूपता सिद्ध करने के लिये केवल प्रमाणगत द्वादशरचक्र ही कैसे पर्याप्त हो सकता है? (प्रमाणगत चक्र में ही प्रमातृगत तथा प्रमेयगत चक्रों के अर्न्तभाव का प्रदर्शन) इस का समाधान यूँ हो सकता है— वास्तव में इस अनुत्तर शैव—मार्ग में परसंविद्रूप प्रमाता भेदरूप इन्धन को जलाने वाला होने से अग्निस्वरूप ही माना गया है। पहिले भी हम कह आये हैं कि—

> "योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं
> प्रमातुरिदमेव तत्।,,

इस रीति से वही अहंप्रकाशात्मा प्रमाता अपनी ही स्वातंत्र्यशक्ति से पूर्व सूचित—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन बारह इन्द्रियों का स्वरूप बन कर प्रमाण—दशा को प्राप्त हुआ बारह—कला—संपन्न सूर्य कहलाता है। यत: यह सूर्यरूप बनी हुई प्रमाण—दशा तो तत्त्वद्य्टि से प्रमाता का ही बहिर्मुख रूप है। अत: **प्रमाणदशा में ही प्रमाता का अन्तर्भाव** पूर्णरूप से विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि प्रमाण—ज्ञान को कहते हैं, उस ज्ञान की सत्ता चूँकि ज्ञेय रहित कदापि संभव नहीं हो सकती, अत: इस सिद्धान्त को समक्ष रख कर इसी **प्रमाण दशा में प्रमेय का भी अर्न्तभाव** निर्विवाद सिद्ध है। अभिप्राय यह है कि इस

प्रमाणरूप सूर्य में न केवल प्रमातृरूप अग्नि का ही समावेश है, अपितु प्रमेयरूप सोम भी इसी प्रमाणरूप दशा में अन्तर्निहित है। इस लिये जगद्रूपता का पूर्ण विकास प्रमाणदशा में ही पाया जाता है। उपरोक्त कथनानुसार वह प्रमाणदशा द्वादशकलात्मक बारह स्वरूपों से युक्त कही गई है। ये ही बारह स्वरूप क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में द्वादशकाली के रूप में आदर पूर्वक स्तुति किये गये हैं।

शैव–योगी प्रमाण संबन्धि मायात्मक वेद्यवेदकसंक्षोभदशा में भी कैसे पर प्रमातृभावात्मक स्वरूपप्रथनदशा को सहज ही प्राप्त कर सकता है– इसी अभिप्राय से संसारचक्र के पूर्णविभव–स्थान बनी हुई संसारदशा में ही द्वादशकालियों के स्वरूपों का प्रदर्शन क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में किया गया है। इसी रहस्य दृष्टि को लक्ष्य करके सभी शैव–आचार्यों ने ग्राह्यग्राहकसंक्षोभरूप व्यवहारदशा में ही परतत्त्वप्राप्ति की विधि सुचारु रूप से वर्णित की है।

आचार्य उत्पलदेव जी भी कहते हैं–

"नाथ! वेद्यक्षये केन
न दृश्योऽस्येककः स्थितः।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽ-
प्यसि भक्तैः सुदर्शनः" ॥उ० स्तो० ॥

अर्थात् हे स्वामी! घटपटादि वेद्यों के योगद्वारा नष्ट होने पर एकाकिभाव में स्थित आप के स्वरूप को कौन नहीं देख सकता है? सबों को आप वैसे दिखाई देते हैं। परन्तु ग्राह्यग्राहकभावात्मक संक्षुभित विकल्पदशा में भी आप भक्तजनों को सुखपूर्वक ही दिखाई देते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि समाधि दशा में यद्यपि योगी को

स्वरूप प्रथनात्मक दशा सहज ही अनुभूत होती है, तथापि व्युत्थानाभिमत बाह्य जगत् में आकर उस योगी को अन्य सांसारिक जनों की तरह ही भेदरूपता से प्रत्येक पदार्थ दिखाई देते हैं अर्थात् वह उस अवस्था में स्वात्मानुभूति से गिर जाता है।

अस्तु, वास्तव में चरम सीमा यही मानी गई है, कि जब योगी को व्युत्थानदशा में भी स्वात्मप्रथा का विकास होने लगता है, तब उस योगी को पर प्रमातृभावात्मक अपने स्वात्मविमर्श से कदापि च्युति नहीं हो सकती। कहा भी है–

''समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः।।,,

अर्थात्–यह जो दुर्भेद्य भेदरूपी पर्वत स्थित है, इसे योगी–जन समाधिरूपी वज्रपातों से भी नहीं तोड़ सकते। किन्तु पराभक्ति से सुशोभित पुरुष उसी भेदप्रथनात्मक पर्वत को भेदप्रथारूप अवस्थाओं में ही स्वात्मपरामर्श के द्वारा नष्ट करते हैं। पूर्व आचार्यों ने इसी अवस्था को विकास–समाधि के नाम से विभूषित किया है। इसी अवस्था को श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने आदरपूर्वक जगदानन्द के नाम से वर्णित किया है। यहाँ यह जतलाना अप्रासंगिक न होगा कि यह जगदानन्द–अवस्था चिदानन्द आदि अन्य समस्त आनन्द–दशाओं से अत्युत्कृष्ट मानी गई है। क्योंकि इस अवस्था के प्राप्त होने पर योगी को समाधि एवं व्युत्थान की एकता हो जाती है। इसी अवस्था को पूर्व आचार्यों ने निर्व्युत्थान–समाधि के नाम से विभूषित किया है। इस जगदानन्द अवस्था का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त जी ने तंत्रालोक में निम्नलिखित प्रकार से किया है–

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो

नास्ति यद्विश्वत: स्फुरन्।

यदनाहतसंवित्ति-

परामामृतबृंहितम्।।

यत्रास्ति भावनादीनां

न मुख्या कापि संगति:

तदेव जगदानन्द-

मस्मभ्यं शम्भुरूचिवान्।।

अर्थात् जिस दशा में किसी प्रकार का स्वरूप–अवच्छेद नहीं रहता। जहाँ स्वात्मचमत्कृति सर्वत: अनुभवगोचर होती है, जो अवस्था पूर्णाहन्तात्मक आनन्दरस से परिपूर्ण बनी हुई है, तथा जहाँ ध्यान, धारणा, समाधि–इत्यादि साधनों के सेवन करने का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है–उसी अवस्था को हमारे गुरुदेव श्रीशम्भुनाथ जी महाराज ने जगदानन्द के नाम से विभूषित किया है। विशेषरूपता से इस अवस्था को समझने के लिये स्वानुभव एवं गुरु–कृपा का होना नितान्त आवश्यक है अत: इस की अनुभूति के लिये गुरुदेव की सपर्या निष्कपटरूपता से करनी चाहिये ।। ओम्।।

तृतीय-प्रकाश

पूर्वोक्त कथनानुसार यह बात सिद्ध हुई कि परप्रमातृरूपा संविद्देवी–प्रमेय, प्रमाण और प्रमातृपद में सृष्टि, स्थिति, संहार और

अनाख्य–चक्र का आश्रय लेकर ही अपने स्वरूप का विकास करती है। इस भांति प्रमेय आदि तीन वर्गों में सृष्टि आदि चार चक्रों के गुणन करने से ये कुल बारह अवस्थायें बनती हैं।

यद्यपि पराभगवती की ये बारह अवस्थायें विश्व की समस्त हानादानादि क्रियाओं में विद्यमान ही हैं, तथापि संसारी जीव अल्पज्ञता से ही इन विश्ववर्त्ती अवस्थाओं में सजग न रहने के कारण इन स्वरूपचमत्कारात्मक अवस्थाओं के आनन्दानुभव से वंचित ही रहते हैं। इन जगद्वर्त्ती स्वरूपलाभप्रद अवस्थाओं में किस प्रकार से मनुष्य सजग यानी उद्यत रह सकता है– इसी का प्रदर्शन करने के अभिप्राय से द्वादशकलियों के स्वरूपों का वर्णन क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में किया है। आचार्य श्री अभिनवगुप्त जी ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीतंत्रालोक में इस विषय को समक्ष रख कर कहा है–

''इत्यजानन्नैव योगी
जानन्विश्वप्रभुर्भवेत्।
ज्वलन्निवासौ ब्रह्माद्यै:
दृश्यते परमेश्वर:।। त० ४ आ० श्लो० १४४॥

अर्थात् साधारण कोटि का योगी अपने को कितना ही योगपरायण क्यों न माने, यदि इस परा–स्थिति की द्वादशरूपता से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ है, तो वह योगी, वास्तव में योगी नहीं माना जा सकता। इस के विलोम जो इन अवस्थाओं को यथार्थरूपता से जान लेता है, वही जगत् प्रभु बन जाता है। क्योंकि सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्यचक्रों के परामर्श करने से देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप शिव–तुल्य बना हुआ ऐसा योगी ही यथार्थरूप से स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है और

अन्य नहीं। वास्तव में इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये स्वात्मीय पुरुषकार असमर्थ और अकिंचित्कर है। केवल परमेश्वरका तीव्रतम शक्तिपात एवं गुरु-कृपा ही इस अवस्था का अनुभव कराने में समर्थ कही जाती है।

अस्तु, अब प्रस्तुत विषय पर यथाबुद्धि विचार प्रकट करते हैं।

इस अगले विकास में आरोहक्रम से इन बारह कालियों का वर्णन किया जायेगा। यानी प्रथम प्रमेयपद पर विचार करेंगे, तदनन्तर अन्तिम विषय प्रमातृपद होगा।

इस के अतिरिक्त इन कालियों के विषय पर प्रकाश डालने से पूर्व यह कहना भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि त्रिकशास्त्र के अद्वैतवाद को ***अन्तरर्थवाद** क्यों कहते हैं। इस के कहने का यही अभिप्राय है कि त्रिकमतानुसार यह समस्त जगद्वर्त्ती पदार्थ, जो हमें बाह्यरूप में ठहरा हुआ दिखाई देता है, वह सब पदार्थसमूह तथ्यरूपतया स्वात्मसंविद्रूपता में ही स्थित है, तभी तो शैव–योगियों को बाह्याभिमत शब्दादि विषयों में आन्तरिक संविच्छक्ति के विकास का अनुभव करामलकवत् प्रतीत होने लगता है। इसी अभिप्राय से इस अद्वैतवाद को अन्तरर्थवाद भी कहते हैं।

अब हम अपने अनुभव एवं शास्त्रों के आधार पर प्रथम, प्रमेय पदस्थ सृष्टि–दशा के विकास पर तनिक विचार करेंगे।

*अन्तर्–अर्थवाद कहने का यह अभिप्राय है कि वास्तव में सभी घटपदादि पदार्थ स्वात्मसंवित्ति के भीतर ही ठहरे हैं। शरीर की उपाधि से ही भीतर और बाहर दिखाई देते हैं–अत: सिद्धान्त यह है कि अपने देह के साथ इस सम्पूर्ण जगत् को संविद्रूपता के भीतर ही समझना चाहिये।

सृष्टिकाली

प्रथम विकास

पूर्व हम यह कह आये हैं कि पारमेश्वरी संविद्देवी का पहिला विकास प्रमेय पद की सृष्टिदशा में होता है। इस सृष्टि–दशा से क्या तात्पर्य है;– इसे सरल शब्दों में यूँ कह सकते हैं–

जब हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के द्वारा किसी भी वस्तु को ग्रहण करने लगते हैं, यानी उस की ओर आकर्षित होते हैं, तो प्रथम क्षण में हमें उस वस्तु का आभास केवल निर्विकल्परूपता से ही अनुभव होने लगता है। इसी निर्विकल्प आभास का नाम प्राथमिक–आलोचन है। अभिप्राय यह है कि जब प्रमाता की संवित्ति पदार्थोन्मुख होकर प्रमेय को ग्रहण करने लगती है तो प्रथम प्रसर में वह संवित्ति उस प्रमेय के स्वरूप को नामरूप कल्पना से रहित केवल निर्विकल्परूपता से ही देखती है। उस दशा में प्रमाता को यह सविकल्प ज्ञान नहीं होता कि ''मैं देखता हूँ, मैं खाता हूँ,, इत्यादि, उस अवस्था में प्रमेयगत घटपटादिवर्ग तथा प्रमाणगत इन्द्रियवर्ग भेदरूपता से प्रतीत नही होता है, केवल देश आदि उपाधि की कल्पनाओं से रहित अकथनीय निर्विकल्प संविद्रूपता का ही आभास होता है। इस दशा का निर्णय श्रीयोगवासिष्ठ में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है–

''द्रष्टृदर्शनदृश्याणि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनं प्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे।।''

अर्थात् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को वासना सहित छोड़ने पर केवल प्राथमिक आलोचन के रूप में जो प्रकाश उदय होता है उसी निर्विकल्प प्रकाशरूप आत्मा की हम उपासना करते हैं यानी परामर्श करते हैं।

तत्त्वदृष्टि से यही प्राथमिक–आलोचनात्मक निर्विकल्प–अवस्था समस्त काल–क्रम को ग्रास करने के फलस्वरूप पूर्व आचार्यों ने काल–संकर्षिणी देवी के नाम से अलंकृत की हुई है। क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में इसी अवस्था को सृष्टिकाली के नाम से वर्णन किया है। योगी इस स्थिति का बार–बार अनुसंधान करने से प्रत्येक बाह्य–क्रिया में पारमार्थिक पराभगवती का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति का निर्णय क्रमस्तोत्र के निम्न श्लोक में वर्णित है=

कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपा-
मुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः।
निलीयते नीलकुलालये या
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि॥ १॥

''या ((परप्रमातृरूपा संविद्देवी))
नीलकुलालये निलीयते, तां कौल-
अर्णव- आनन्दघन- ऊर्मिरूपां
((तथा)) अन्तः उन्मेष–मेष–उभय-
भाजम् सृष्टिकालीं सततं नमामि,,
इति संबन्धः॥ १॥

अर्थात् जो परप्रमातृरूप संविद्देवी कौल यानी परबोधरूपी शिव–समुद्र की आद्य–उन्मेष–दशा होने के हेतु प्रथम–स्पन्द–रूप ऊर्मि बनी हुई है। तथा जो अपने ही अन्तः स्वरूप में उन्मेष और निमेष का सेवन करती है। साथ ही जो देवी ''नीलकुलालय'' यानी घटपटादि प्रमेय–वर्ग में

प्राथमिक–आलोचन के रूप में ठहरी हुई है; उसी सृष्टिकाली भगवती को मैं सदा नमस्कार करता हूँ यानी अपनी मितप्रतातृ–दशा को परसंवित्ति में गुणीभूत करके उसी परस्वरूपा में समावेश करता हूँ।। अस्तु, ऊपरोक्त पहिले विकास में परादेवी की प्रमेयपदस्थ सृष्टिदशा का वर्णन समाप्त हुआ।। १।।

रक्त–काली

दूसरा विकास

अब पराभगवती के इस दूसरे विकास में प्रमेय–पद में स्थितिदशा के संबन्ध में विचार किया जायेगा।

ऊपरवर्णित देवी सृष्टिकाली के उदय होने के पश्चात्, वही पूर्व निर्णीता परसंवित्ति जब घट पट आदि पदार्थों की ओर उन्मुख बन कर बहिर्मुख बनती है, या यूँ कहा जाये कि जब यह काली देवी अपने ही अनर्गल स्वातंत्र्य से प्रमेयवर्ती स्थितिदशा (प्रमाणदशा) में आकर नेत्र आदि इन्द्रियों के, रूप आदि विषय–चक्र के साथ पदार्थ–रञ्जात्मक रक्ति यानी राग को प्राप्त करती है, तो विषयों को भोगते हुए भी वह परप्रमातृरूप संविद्देवी उस पदार्थ–रञ्जनात्मक ज्ञान का भी स्वात्मरूपतया ही साक्षात्कार करती है। यानी ग्राह्यग्राहकवेला में भी वह परादेवी उस विषयभोगरूप रक्ति को निर्विकल्पभाव से अनुभव करती हुई अपनी दूसरी स्वरूपविकास दशा को प्रकट करती है। इस अवस्था का उल्लेख श्रीमान् आचार्य उत्पलदेव जी ने अपने इस श्लोक में किया है–

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरिते
ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः।।

अर्थात् हे प्रभो! लबालब भरे हुए समस्त पदार्थरूपी प्यालों में उन सभी इन्द्रियों के द्वारा धारावहिक रूप से की गई आप की पूजा के रसायनात्मक मदिरा को तृप्ति–पर्यन्त पीता हुआ ही मैं मतवाला बनूँ।।

अस्तु; क्रमस्तोत्रादि रहस्य शास्त्रों में इस दूसरे संविद्विकास को रक्तकाली के नाम से आदृत किया है। क्रमस्तोत्र का निम्नलिखित श्लोक इस काली का परिचायक है-

महाविनोदार्पितमातृचक्र -
वीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां
नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥ २॥

((अहं))महाविनोद-अर्पित-मातृ-चक्र-वीरेन्द्रक
-असृग्रस-पान-सक्ताम, प्रलय-अत्यये च रक्ती
कृताम् तां विश्वाकृति-रक्तकालीं
नमामि-इति सम्बन्धः ॥ २॥

इस श्लोक के 'मातृचक्र, शब्द में मातृ-गण यानी समस्त इन्द्रिय–सम्बन्धी करणेश्वरी–समूह की ओर संकेत किया गया है और ''वीरेन्द्रक,, शब्द में-

''त्रितयभोक्ता वीरेशः''

इस शिवसूत्र की नीति से परमयोगियों की ओर संकेत है। अभिप्राय यह है कि ऐसे ही उच्च कोटि के योगी जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में भी तुर्यचमत्कार से संपन्न बने रहते हैं।

अस्तु, ऊपर वर्णित श्लोक का शब्दार्थ यह है कि जिस शुद्ध विद्याचमत्कारात्मक आनन्द से युक्त विनोद–दशा में परमयोगि–जन अपनी करणेश्वरी रूपी योगिनियों के साथ लवलीन बन जाते हैं– इस

प्रकार के महासिद्ध–योगिनी–मेलाप–वेला में, जब परमयोगी–जन तथा उनकी करणेश्वरी देवियों का वास्तविक समागम होता है, ऐसी दशा में वही परा पारमेश्वरी संवित् (असृग्रस) अर्थात् इस सिद्धयोगिनियों की महागोष्ठी में महापानलीला करने में तत्पर बनी होती है। कहा भी है–

"जुहोति जपति प्रद्धे
सर्वत्रैवात्र चण्डिका।।,,

अर्थात् इस महायोगिनी–मेलाप में हवन, जप–इत्यादि सारा कार्य दुर्गा भगवती ही करती है और वही सर्वत: उस महागोष्ठी में देदीप्यमान बनी रहती है। इस के अतिरिक्त जो संहाररूप प्रलय के अत्यय यानी अवसान पर, या यूँ कहा जाये कि स्थितिरूप विश्व उन्मेष दशा में निर्विकल्पभाव से अनुरक्त बनी हुई है, उसी विश्वाकार बनी हुई रक्तकाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ भी प्रणाम शब्द का तात्पर्य उसी में तन्मयरूप से ठहरने की ओर है। इस उक्तरीति से पारमेश्वरी संविद्देवी की प्रमेयगत स्थितिदशा का वर्णन समाप्त हुआ।। ओम्।।

स्थितिनाशकाली

तीसरा विकास

इस तीसरे विकास में भगवती काली की प्रमेयपदान्तर्गत संहारदशा का वर्णन है। उपरोक्त वर्णित रक्तादेवी के विषयग्रणात्मक चमत्कार के तृप्तिपर्यन्त उदित होने के पश्चात् वही परप्रमातृरूप संवित्-

''ज्ञातोऽयं मयार्थः,,।।

अर्थात् मैं ने यह पदार्थ जान लिया,– इस रीति से जब तृप्त होकर अन्तर्मुखता का ही (आश्रय) या विमर्श करती है, तब ग्राह्य तथा ग्रहण की स्थिति को स्वात्मसात् करती हुई–''स्थितिनाशकाली,, के स्वरूप से प्रकट होती है। भाव यह है कि विषयभोगात्मक क्रियाओं की समाप्ति पर ये ही *करणेश्वरी देवियां तृप्त होकर चिद्भैरवनाथ के साथ पूर्ण रूप से अलिंगित बनी हुई अन्तर्मुख पद का अवलम्बन करती हैं।

श्रीतन्त्रालोक में श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने इसी कथन को अतिसुन्दर शब्दों में समझाया है:–

''तास्तृप्ताः स्वात्मनः पूर्ण
हृदयैकान्तशायिनम् ।
चिद्व्योमभैरवं देव-
मभेदेनाधिशेरते,, ।।

अर्थात् जब इन्द्रियां भोगक्रिया के चमत्कार से पूर्णरूपतया तृप्त

---

*इन्द्रियों को ही करणेश्वरी देवियां कहते हैं– किन्तु अन्तर इन मे इतना ही है कि अन्तर्मुख पद में ठहरी हुई इन्द्रियाँ करणेश्वरी देवियाँ कहलाती हैं, और वाह्यवृत्तियों में तत्पर बनी हुई वे ही इन्द्रियाँ कही जाती है।

होती हैं, तब वे ही इन्द्रियां अन्तर्मुखवृत्ति का आश्रय लेती हुई करणेश्वरी देवियां हृदयस्थान में विश्राम लेते हुए, एवं आकांक्षारहित होने के हेतु परिपूर्ण भैरवनाथ के साथ आलिंगन करती हुई तन्मय हो जाती हैं।

परसंवित्ति की इसी अवस्था को क्रमस्तोत्रादि कालीशास्त्रों में 'स्थितिनाशकाली, के नाम से वर्णित किया है, क्रमस्तोत्र का निम्नलिखित श्लोक इसी काली भगवती का द्योतक है:–

''वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र-
प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां
शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम्।। २।।

'यया अर्चिषा शुचि: अस्तं
गमित:, तां वाजिद्वय-स्वीकृत-
वातचक्र-प्रकान्त-संघट्ट-
गमागम–स्थाम् शान्तां स्थितिनाशकालीं
नमामि (अहम्)–इति संबन्ध: ।। ३।।

अर्थात् जो यह प्राण और अपान का जोड़ा दो वेगों से युक्त बना है, उसने समस्त 'वातचक्र, यानी बहत्तर हजार नाड़ियों को स्वीकृत किया है–अर्थात् अपने ही अधीन बनाया है। इस प्राणापानयुगल के प्रवेश और निर्गमनात्मक क्रिया में, या यूँ कहें कि श्वास के आने जाने में अन्तर्द्वादशान्त और बाह्यद्वादशान्त में जो संघट्ट यानी संधि होती है,

अथवा प्रमेय और प्रमाण के जोड़े का जो मेल, प्रमातृ–पद में होता है, उसी संधि में जो परप्रमातृरूपा देवी ठहरी है। तथा जिस संविद्देवी ने अपनी ही अर्चि यानी दीप्ति से *'शुचि, अर्थात् मितप्रमाता को स्वस्वरूप में ही अस्त किया है, उसी प्रमाणप्रमेयादि क्षोभशून्य, या यूँ कहा जाये प्राणापानादिक्षोभशून्य अत्यन्त शान्त निर्विकल्परूप स्थितिनाशकाली को मैं नमस्कार करता हूँ, यानी उसी में समावेश करता हूँ।

श्रीमान् आचार्य उत्पलदेव जी ने निम्नलिखित श्लोक मे इस अवस्था की ओर संकेत किया है–

''यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वान्
चन्द्रम:–प्रभृतिभि: सह सर्वै:।
कापि सा विजयते शिवरात्रि:
स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा ।।,,

अर्थात् जिस अवस्था में वह प्राणरूपी सूर्यदेवता अपानरूपी चन्द्रमा आदि सम्पूर्णविकल्परूपी तारामण्डल सहित अस्त हो जाता है, वही स्वात्मचिदानन्दरूपी ज्योति:प्रसर से देदीप्यमान बनी हुई कोई सी अलौकिका परप्रमातृरूप शिवरात्रि जयनशील हो।

यहाँ 'शिवरात्रि, शब्द इसी स्थितिनाशकाली भगवती का सूचक है।

---

*शैव शास्त्रों में शुचि अग्नि यानी प्रमाता को कहते है। कहा भी है–

''शुचिर्नामाग्निरुद्भूत:
संघट्टात् सोमसूर्ययो:।।

अर्थात् 'शुचि' प्राणापान के संघट्ट से उत्पन्न व बना हुआ अग्नि यानि प्रमाता कहलाता है।

इस प्रकार पारमेश्वरी संविद् भट्टारिका के तीसरे विकास का निर्णय भी समाप्त हुआ।

।। ओम्।।

यमकाली

चौथा विकास

प्रस्तुत विकास में प्रमेयपदान्तर्गत अनाख्यदशा के स्वरूप का निर्णय होगा। परसंवित्ति की यह अनाख्यदशा दो भागों में विभक्त मानी गई है। एक (बहिर्मुख) स्वरूपाच्छादनरूपा दूसरी (अन्तर्मुख) स्वरूपोन्मीलनरूपा। इन दोनों अवस्थाओं का अनुभव केवल शैव–योगी ही कर सकता है।

जब योगी उपरोक्त परप्रमातृरूपा स्थितिनाशकाली का अनुभव करता है, उस दशा के पश्चात् ही जहाँ प्राणापानरूपी द्वन्द या प्रमाणप्रमेय रूपी द्वन्द्व सर्वभाव से परचिति में संहृत अथवा लय होता है, तब उस परादशा में भी योगी यदि स्वात्मानुसंधान में तनिक–मात्र भी ढील छोड़े, तो वह अनाख्य दशा में प्रविष्ट होने के उलट स्वरूपाच्छादनरूपा महामाया में प्रविष्ट होने लगता है। इस भांति ऐसा योगी स्वात्मपरामर्श से छूटने के फलस्वरूप कार्याकार्य विचार में किंकर्त्तव्यमूढ बना हुआ शंकासमुद्रमें निमग्न होकर बहिर्मुख ही बनता है। इस के विलोम यदि जागरूक योगी–

"उद्यमो भैरवः,,

इस शिवसूत्र की उक्ति से उस अवस्था में मनाग्मात्र भी स्वात्मानुसंधान को नहीं छोड़ता; यानी उद्यन्तृतास्पद में कटिबद्ध रहता है, तब वह योगी उस अनाख्य–दशा में प्रवेश करते ही स्वरूपप्रथनात्मक विकास–समाधि में प्रविष्ट होता है। इसी आशय से स्पन्द–सूत्रों में भी कहा है–

"तदा तस्मिन् महाव्योम्नि

प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढ:
प्रबुद्धः स्यादनावृत:।।,,

अर्थात् उस दशा में जहां सोमसूर्य रूपी प्राण और अपान या प्रमाण और प्रमेय सर्वभाव से चिदाकाश में लयीभूत होते हैं, ऐसी परा दशा के उपस्थित होने पर भी स्वात्मानुसंधान रहित मूढ योगी महामायारूपिणी सुषुप्तावस्था में ही चला जाता है। किंतु प्रबुद्ध योगी जो स्वविमर्शपरायण रहता है, इस अवस्था में प्रवेश करके सदा के लिए आवागमन के चक्र से छूट जाता है। उपरोक्त श्लोक से इस बात की पुष्टि हुई कि इस परादशा में पहुँच कर भी पुन: गिरने की संभावना है, अत: योगी को चाहिये कि किसी क्षण भी स्वात्मपरामर्श से रहित न बने।

अस्तु, इन्हीं दो प्रकार की स्थितियों से युक्त–"महाग्रास",, एवं "महाविलास,, करने वाली पराचिति को यमकाली के नाम से वर्णन किया है। क्रमस्तोत्र का निम्न श्लोक इसी यमकाली का सूचक है–

"सर्वार्थसंकार्षणसंयमस्य
यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय।
वपुर्महाग्रासविलासरागा –
त्संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम्"।।४।।

(अहं) सर्वार्थसंकर्षण–संयमस्य यमस्य यन्तुः
वपुः जगतः यमाय महाग्रास-
विलासरागात् संकर्षयन्तीम्

कालीं प्रणमामि—इति सम्बन्धः।। ४।।

अर्थात् जो यमरूपी विकल्प समस्त रूपादि पदार्थों को परस्पर अपोहन करके यानी ''यह घड़ा ही है, वस्त्र नहीं,,— इस प्रकार नियत रूप से संयम अर्थात् विकल्प करता है; या यूँ कहें कि इसी नियतरूपता को ठहराता है, और जो उस यमरूप विकल्प का नियन्ता—मितप्रमाता है— इस रीति से इन दोनों के स्वरूप को जो परप्रमातृरूपा काली देवी जगत् का नियमन करने के लिये महाग्रास और महाविलास रूपी अपनी आनन्दरसलीला से संकर्षण यानी उल्लेख करती है— उसी महाग्रासरस तथा महाविलासरस को दर्शाने वाली परापारमेश्वरी भगवती यमकाली को मैं प्रणाम करता हूँ। यानी अपनी देह प्रमातृता को उसी में लय करके उसी के परास्वरूप में प्रवेश करता हूँ।। ४।।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि अपनी ही अप्रतिहता स्वातंत्र्यशक्ति से जो परा देवी एक ओर से स्वात्म—उन्मुखता का आश्रय लेकर समस्त यमादि विकल्परूप जगन्मण्डल को अन्तर्मुख पद में लवलीन बनाकर महाग्रासरस का उल्लास करके परप्रमातृदशा से स्फुरित होती है, तथा दूसरी ओर अपने ही प्रमोदरस से विकल्प विकल्पयिता आदि समस्त भाववर्ग को बहिर्व्यवहारस्वरूप में लिजा कर महाविलासरस का प्रमोद लेती हुई मितप्रमातृदशा का ही स्फार करती है इन्हीं दो विलासरसों में रसिक बनी हुई यमकाली मानी गई है।

पारमेश्वरी भगवती की अनुकंपा से इस चौथे विकास में निर्णीत प्रमेयगत सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्यरूपता का आश्रय लेकर ''सृष्टिकाली,,—''रक्तकाली,, ''स्थितिनाशकाली और यमकाली,,— इन चार कालियों का वर्णन समाप्त हुआ। ।।ओम्।।

अब प्रमाण दशान्तर्गत चार देवियों का क्रमपूर्वक निर्णय करेंगे।।

श्रीसंहारकाली

पाञ्चवां विकास

अब इस परादेवी के पांचवें विकास में प्रमाणपदस्थ सृष्टिदशा का वर्णन किया जाता है।

इस प्रमाणान्तर्वर्ती सृष्टि दशा के प्रतिपादन करने का तात्पर्य यह है, कि जब योगी पूर्वसूत्रित प्रमेयगत अनाख्यदशा में स्वात्मसंवित्ति के स्वरूपगोपनात्मक तथा स्वरूप–उन्मीलनात्मक–दोनों रूपों का अनुभव करता है, तो गुरुकृपा से वह योगी स्वरूपगोपनात्मक बहिर्मुखवृत्ति का समूल संहार करने लगता है; यानी इस संसृति–चक्र को स्वात्माग्नि में अभेदरूपतया अर्थात् अन्तर्मुख पद का आश्रय लेकर ही लयीभूत करता है, तब वह आप ही आप विना प्रयास के ही प्रमाणसंबन्धी सृष्टि–दशा में प्रवेश करता है। इस दशा में आकर उसे पुन: स्वरूपगोपनात्मक बहिर्मुखवृत्ति नहीं आ घेरती। अत: वह योगी निर्विकल्पता से ही उन्मनारूप स्वात्मसंवित्ति में भावसंहाररूपी अवस्था का अनुभव करता है। आचार्य उत्पलदेव जी महाराज ने भी इस भावसंहारात्मक अवस्था का संकेत श्रीउत्पलस्तोत्रावली के इस श्लोक में किया है:–

''विलीयमानास्त्वय्यैव
व्योम्नि मेघलवा इव।
भावा विभान्तु मे शश्वत्
क्रमनैर्मल्यगामिन:।।,,

अर्थात् हे प्रभो! आकाश में लीन बने हुए मेघखण्डों की

नाईं ये घटपटादि पदार्थ आप के स्वरूप में ही भली भांति तथा क्रमरूप से लय होकर निर्मलता को प्राप्त होते हुए मुझे दीखने लगें।

इस अवस्था को भावसंहाररूप इस लिये कहते हैं कि इस कोटि में पहुंचकर भेदप्रथात्मक शंकाओं तथा हेयोपादेयरूप कल्पनाओं के साथ प्रमेयमण्डल सर्वभाव से संहृत हो जाता है।

इस अवस्था को क्रमस्तोत्रादि रहस्य शास्त्रों में श्रीसंहारकाली के नाम से वर्णन किया है। इस देवी काली की स्तुति क्रमस्तोत्र के इस श्लोक में की है:–

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहारनिमेषमेति।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां
संहारकालीं मुदितां नमामि ।। ५।।

या (परादेवी) उन्मनी, अनन्ता,
निखिल–अर्थ–गर्भा सदोदिता सती,
भाव–संहार–निमेषम् एति,
(ताम्) उदयाय शून्यां मुदितां–
संहारकालीं नमामि इति सम्बन्धः ।।५।।

अर्थात् जो पारमेश्वरी संवित् पूर्वसूचित समस्त शंकात्मक विकल्पों के संहार करने से उन्मनारूप बनी हुई है, तथा समस्त पदार्थों को अपने स्वरूप में रखने से अनन्तरूप है, जो कालिका देवी स्वात्माग्नि में समस्त

भावमण्डल का उपसंहार करने के फलस्वरूप भावसंहारस्थिति का आश्रय लेती है, तथा जो उद्यन्तृतास्पद का अवलम्बन लेते हुए भी, बहिःस्फाररूप उदय से शून्य बनी हुई है। ऐसी आनन्दघना संहारकाली को मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ भी प्रणाम का अर्थ पूर्वनीति के अनुसार उसी में समाविष्ट बनने का है। आज त्रिपुरसुन्दरी भगतवी की अनुग्राहिका शक्ति से पांचवें विकास में वर्णित संहारकाली भगवती का निर्णय समाप्त हुआ।।

।। ओम् ।।

मृत्युकाली

छठा विकास

भगवती काली द चे के ग्झस छठे विकास में प्रमाणदशान्तर्गत स्थिति चक्र का वर्णन किया जाता है।

पूर्ववर्णित संहारकाली के द्वारा यद्यपि समस्त प्रमेय–वर्ग का समूल–उच्छेदन हो जाता है, तथापि उस प्रमेयरूप संहृतवस्तु की तनिक संस्काररूप उपाधि विद्यमान ही रहती है, जिस उपाधि के द्वारा पूर्वोक्त संहारकाली इस प्रकार स्वात्मपरामर्श करती है कि–

''मयैतदर्थज्ञातमात्मनि
अभेदेनावभासितम्,,

मैं ने इस समस्त प्रमेयात्मक भाववर्ग को अपने ही संवित्स्वरूप में अभेदभाव से प्रकाशित किया है– इस प्रकार के भावसंहृति–परामर्श के संस्काररूपी उपाधि को भी जब संविद्भगवती अपने संशुद्ध–यानी संहृतिसंस्कारात्मक उपाधि से रहित परप्रमातृस्वरूप में लयीभूत करती है, तब इस परादेवी के छठे विकास को प्राप्त हुई मृत्युकाली उदय करती है। पूछा जा सकता है कि इस देवी को मृत्युकाली क्यों कहते हैं। इस का उत्तर यही है कि यह संवित्ति पूर्व–वर्णित संहारकाली को भी अपने स्वरूप में संहार करती है–इत्यत: इस देवी को संहाररूपी मृत्यु को भी कवलन करने के हेतु मृत्युकाली कहते हैं। क्रमस्तोत्र का निम्न श्लोक इस काली देवी का परिचायक है–

''ममेत्यहंकारकलाकलाप-
विस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्यु:।

ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां
नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम्।। ६।।

यया (कालिकया) मम-इति-
अहंकारकला-कलाप-विस्फार-
हर्ष-उद्धतगर्वमृत्युः ग्रस्तः,
ताम् अकाल-उदिताम्
घस्मर-संविदं मृत्युकालीम्
नमामि (अहम्)-इति संबन्धः।। ६।।

अर्थात् ''मैं ने इस समस्त प्रमेय मण्डल को अपने स्वरूप में लीन बनाया है,,- इस भांति अहंकार समूह से प्रसरित बनी हुई स्वात्मानन्द-रूपी हर्ष से उत्कृष्टगर्वयुक्त मृत्युरूपा संवित् को भी जिस पारमेश्वरी संविद्भगवती ने संपूर्णरूपतया ग्रस्त किया है- उसी महाग्रासप्रवणरसिका एवं कालकलना से रहित मृत्युकालीरूप संविद्देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।। ६।।

यहां ऐसी शंका होने की संभावना है कि उत्कष्टगर्वयुक्त होने से यह संवित्ति पूर्णाहन्तारूप ही सिद्ध है, इस अवस्था की उपादेयता समस्त शास्त्रों ने स्वीकृत की है, तो ऐसी पूर्णाहन्तारूप संवित् को भी पुनः संहार करने से क्या अभिप्राय है?

इस शंका को सुलझाते हुए कहा जा सकता है कि वास्तव में पांचवें विकास में वर्णित अवस्था पूर्णाहन्तारूप नहीं मानी जा सकती है; क्योंकि इस संहारकाली की अवस्था में संस्काररूप से तनिक मात्र इदन्ता

का सामञ्जस्य बना ही रहता है, तभी तो इस दशा में प्रस्तुत परामर्श स्फुरत्ता में आता है कि ''मैं ने इदन्ता को अहंस्वरूप में विलीन किया है,,। इस के विलोम पूर्णाहन्तास्वरूप में न तो लयीभूत ही कुछ करना है और न इस प्रकार का परामर्श ही करना होता है। इस पूर्णाहन्तास्पद में ''सर्वमहम्,, इस रूप का परामर्श होने से केवल स्वभावभूत अहंता अवस्थित रहती है। अतः पूर्वोक्त उपाधिसहित अहंतारूपी संवित् को इस उपाधि–रहित, स्वभावभूत अहंता में प्रवेश करने के लिये ही इस प्रस्तुत मृत्युकाली का वर्णन करना युक्तियुक्त तथा सार्थक बना हुआ है। उत्पलदेव जी महाराज ने इसी अवस्था की स्तुति करते हुए यह निम्न श्लोक कहा है:-

''त्वामगाधमविकल्पमद्वयं
स्वस्वरूपमखिलार्थघस्मरम्।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा
पूजयेयमभिसंस्तुवीय च।।,,

अर्थात् हे पार्वती नाथ! अपार निर्विकल्प अभेदरूप तथा समस्त घटपटादि भेदात्मक पदार्थों का ग्रास करने वाले आप के स्वरूप में प्रविष्ट होकर मैं आप की पूजा करूँ और सर्वभाव से आप की ही स्तुति करूँ।।

अस्तु, इस प्रमाण–पदस्थ स्थितिदशा का अनुभव करने वाले योगी की संवित् भी घस्मर बन जाती है; यानी उसे खाने की चाहना सदा बनी रहती है। प्रत्येक खाद्य–पदार्थ को खाकर भी उसे भूख सताती रहती है। हमारी दृष्टि में भी कई योगी–जन ऐसे दीखने में आये हैं कि जिन्हें कुछ काल के लिये ऐसी अवस्था रही है। वे इस दशा में रहकर

मनों दूध, सब्जी–इत्यादि का भक्षण हेलया करते थे। अस्तु आज पारमेश्वरी पराभगवती की इस प्रमाणवर्ग में ठहरी हुई ही स्थिति दशा का वर्णन समाप्त हुआ।। ओम्।।

।। ओम्।।

भद्रकाली

सातवां विकास

इस प्रस्तुत सातवें विकास में परप्रमातृरूपा चिन्महेश्वरी की अवस्था प्रमाणगत संहारस्वरूप में वर्णित होगी।

यद्यपि कार्यरूप समस्त भाववर्ग उपाधिरहित शुद्ध प्रमातृसंवित्ति में लय होने के फल–स्वरूप संहृत भी हुआ है, तथापि अपनी अप्रतिहत स्वातंत्र्यशक्ति से वह शतशः प्रतिपादित परासंवित् उस भाववर्ग के संहार करने के अनन्तर ही किसी नियतरूप पदार्थ को पुनः घनीभूत करके उसकी संस्कारात्मक अस्तित्वशंका को पुनः उत्थापित करती है, जिसके फलस्वरूप कालान्तर में प्रमाता को पुनः संसार चक्र में गिरने की ओर झुकाव रह जाता है। किन्तु इस प्रमाणगत संहाररूप अवस्था में यद्यपि उपरोक्त प्रकार की संस्कारात्मक शंकायें उदित भी होती हैं, तथापि वे सभी शंकायें उदित होते ही काफूरवत् आप ही आप नष्ट हो जाती हैं। इस रीति से संस्कार–उत्थापनात्मक भेदन और संस्कार प्रशमनात्मक द्रावण करती हुई चिन्महेश्वरी कालिका भगवती अपने सातवें विकास का प्रदर्शन करती है।

क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में इस विकास को भद्रकाली के नाम से अलंकृत किया है। ''भद्रकाली,, का शाब्दिक अर्थ दो अक्षरों से ग्रहण किया जाता है। भ से भेदन अर्थात् भिन्नभिन्न रूपों का विलास। द्र से द्रावण यानी उन विभिन्न विकासों को पुनः अपने ही स्वरूप मे लय करना है। अतः इस भद्रकाली के भद्र–शब्द में भेदन तथा द्रावण–इन्हीं दो अर्थों का अन्तर्भाव समझना चाहिये। क्रमस्तोत्र का निम्नश्लोक इसी काली को दर्शाता है:–

''विश्वं महाकल्पविरामकल्प-
भवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम्।। ७।।,,

या अनन्तप्रभवा महाकल्पविराम
कल्प-भवान्त-भीम-भ्रुकुटिभ्रमन्त्या
अर्चिषा विश्वं अश्नाति, ताम् भद्रां
शुभभद्रकालीं (अहं) नमामि-इति
संबन्धः।। ७ ।।

अर्थात् महाकल्पान्त के सदृश (प्रमाणगत संहृति–चक्र रूपी) संहारावस्था में भयंकर भ्रुकुटियों को नचाती हुई अनन्त सामर्थ्य से युक्त जो चिदीश्वरी अपनी चिद्रूप दीप्तियों से इस प्रमेयप्रमाण रूपी समस्त जगत् का ग्रास करती है– उसी कल्याणमयी भद्रकाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ यानी उसी के स्वरूप में समावेश करता हूँ।।

ऊपर वर्णित श्लोक के इस विश्वशब्द और अर्चिशब्द में भद्रकाली की क्रमपूर्वक संस्कार–उत्थापनात्मक भेदनरूपता एवं संस्कार–प्रशमनात्मक द्रावणरूपता पर कुछ विचार निम्नलिखितरूप में प्रकट करते हैं–

पूर्ववर्णित प्रमेय–पद की अनाख्यदशा में भी इस संस्कार–जन्य शंका की उदित–दशा का वर्णन हो चुका है, किन्तु उस शंकास्पद–भूमि में और इस भद्रकाली संबन्धि शंकास्पद भूमि में तिल-ताड़ का अन्तर है। उस यमकाली अवस्था में होने वाली शंकायें तो पुरुष–प्रयत्न द्वारा

ही नष्ट होती हैं, यानी यदि साधक पुरुष उन शंकाओं को अपने अनुसंधान रूपी प्रयत्न के द्वारा नष्ट करने के लिए कटिबद्ध न रहें तो वह स्वात्मस्थिति से च्युत होकर अन्य संसारी जनों की भांति बहिर्मुख ही बन जाते हैं। किन्तु प्रस्तुत भद्रकाली की अवस्था में उत्थित शंकायें, योगी के प्रयत्न किये बिना ही स्वयं नष्ट होती हैं। इसी अभिप्राय को जतलाने के लिये–इस भद्रकाली की अवस्था में शंकाओं का भेदन एवं शंकाओं का द्रावण–इस प्रकार के दो स्पन्दों का एक साथ ही उदित होना कहा गया है।

इसी काली भगवती के प्रभाव से जब योगी इस अवस्था में समावेश करता है, तो वह स्वयं ही उस अवस्था में शङ्काओं का उदय और नाश युगपद्भाव से अनुभव करता हुआ अनायास ही भद्रकाली की अवस्था का साक्षात्कार करता है।

अस्तु, जो भी हो, तत्त्वदृष्टि से कार्य–अकार्य–रूप शंकायें ही योगी के लिये, सदाशिवदशा की प्रप्ति तक विघ्नरूप से अवस्थित रहती हैं। इसी प्रकार की शंकाओं की अधमता दर्शाते हुए आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने तन्त्रालोक में कहा है–

> ''तथाहि शङ्का मालिन्यं
> ग्लानि संकोच इत्यद:।
> संसारकारागारान्त:
> स्थूलस्थूणा घटायते ।।,,

अर्थात् शंका ही मानो तीनों प्रकार का मल है शंका ही ग्लानि यानी अज्ञान से उपजा हुआ प्रमाद है। यही संकोच है, तथा यह ही शङ्का इस संसाररूपी कारागृह में एक मोटे खम्भे की भांति अवस्थित है– जिस के साथ मनुष्य सदा के लिये बन्धे रहते हैं।

आज चिच्चमत्कृतिमयी पराभगवती की अनुकम्पा से प्रमाणदशा में ठहरे हुए संहारचक्र में देदीप्यमान बनी हुई श्रीभद्रकाली देवी के स्वरूप का निर्णय समाप्त हुआ।

।।ओम्।।

मार्तण्ड काली

आठवां विकास

इस विकास में, प्रमाणवर्गान्तर्गत पारमेश्वरी देवी की अनाख्यदशा का वर्णन करेंगे।

पूर्णवर्णित देवी के सातवें विकास में यद्यपि प्रमेयमण्डल सर्वभाव से विलीन हो गया है, तथापि प्रमाणदशा में स्थित, प्रमेयसमूह को जीवन देने वाली बारह इन्द्रियां (पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पाञ्च कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि) संहृत होकर भी अपने वास्तविक आश्रयस्थान अहंकार में समावेश प्राप्ति के विना इन इन्द्रियों की सत्ता सूक्ष्म रूप से बनी ही रहती है। इत्यत: इस प्रस्तुत विकास में अपने ही स्वातंत्र्य से यानी परिमितप्रमातृपद को एक ओर रख कर, परप्रमातृरूपा पारमेश्वरी देवी, इन बारह इन्द्रियरूपी सूर्यात्मक साधनों को, इन के आश्रयस्थान बने हुए अहंकार–पद में विलीन बनाती हुई, अपने विश्वमयस्वरूप के आठवें विकास का प्रदर्शन करती है।

पूर्व हम कह आये हैं कि इन इन्द्रियों को शैव–शास्त्र में सूर्यात्मक कह कर वर्णित किया है, तथा इन्हीं को प्रमाण भी कहते हैं:–

''सूर्यं प्रमाणमित्याहु:।,,

इस उक्ति के अनुसार इन इन्द्रिय रूपी बारह सूर्यों को अथवा बारह मार्तण्डों को अहमात्मक पद में संहार करने के कारण इस अवस्था को क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में 'मार्तण्डकाली, के नाम से विभूषित किया है। क्रमस्तोत्र में कहा है:–

''मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं

पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय।
करोति या विश्वरसान्तकां तां
मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि,,॥ ८॥

या (देवी) मार्तण्डं, पतङ्गवत्
काल-कला-इन्धनाय, आपीत-
पतङ्गचक्रं करोति, तां विश्वरस-
अन्तकां मार्तण्डकालीं सततं
प्रणौमि- इत्यन्वयः ॥ ८॥

अर्थः– पूर्वोक्तनीति से भोग्य–वर्ग के विलीन होने पर भी जो परसंविद्रूपा जगदीश्वरी ,मार्तण्ड–अर्थात् अहंकाररूप प्रमाता को इस रीति से संस्थापित करती है, जिस से वह प्रमाता भोगसाधन बने हुए सभी पतङ्गचक्र यानी बारह इन्द्रियों को उसी भांति समाप्त कर देता है, जैसे एक पतंगा अति उत्साह एवं वेग से जलते हुए दीपक पर अपने प्राणों को न्योछावर करके सदा के लिये अपने स्वरूप को समाप्त करता है। ऊपर वर्णित इन्द्रियों का अहमात्मक पद मे लय करने का प्रयोजन वक्ष्यमाण कालाग्निरुद्र नामक मितप्रमाता को उत्तेजित करना ही है। इस प्रकार समस्त शब्दादि वैषयिक रसों को स्वस्वरूप में ही विलीन बनाने वाली उसी मार्तण्डकाली भगवती की मैं सदा स्तुति करता हूँ, यानी उसी के स्वरूप का परामर्श अहर्निश करता हूँ॥

सच तो यह है कि जब योगी प्रमाणचक्रवर्ती इस अनाख्यदशा में पदार्पण करता है तो उसे यह अनुभव होता है कि इस मार्तण्डकाली के देदीप्यमान बनने से ही मेरी समस्त प्रमाणचक्रवर्त्ती इन्द्रियां अपने

समस्त संस्कारों सहित उदित होकर इसी मार्तण्डकाली के प्रभाव से पुन: उसी के स्वरूप में विलीन हो गई हैं, और इस रीति से अपने अस्तित्व को सदा के लिये खो बैठी हैं। इसी अवस्था की स्तुति करते हुए किसी आचार्य ने कहा है:–

"करणमरीचिचक्रमुदयं कुरुते रभसात्
स्थितिमुपयाति तत्र परसौख्यरसान्ततया।
विलयमुपैति चात्र परबोधभरक्षपणात्
परमकलात्र केवलतया विलसत्यमला।।,,

अर्थात् इस अवस्था की प्राप्ति पर बारह इन्द्रियों का संपूर्णचक्र अति उत्साह एवं हर्ष पूर्वक उदित होता है। तदनन्तर उस अवस्था की आत्यन्तिक एवं आन्तरिक सुखरूपता के फल–स्वरूप यह चक्र उसी परादेवी के तेज में विश्राम लेता है, तथा अपरिमित परज्ञानात्मक प्रकाश के कारण, उसी तेज में यह इन्द्रिय चक्र अपने अपने संस्कारों को लेकर ही विलीन भी होता है। तथ्य तो यह है कि इस दशा में निर्मल बनी हुई परमकला यानी परप्रमातृरूपी शिवकला ही एकाकी रूप से विलास करती हुई दीखने में आती है।।

आज उसी अमाकलारूप परसंवित्ति की अनर्गला अनुग्रह शक्ति से श्रीकाली भगवती के आठवें विकास का निर्णय समाप्त हुआ।।८।।

ओम्।।

परमार्ककाली

नौवां विकास

आठवें विकास तक प्रमाणांश का भक्षण करने में लगी हुई चार देवियों का निर्णय समाप्त हुआ। अब इस नौवें विकास से प्रमातृपद का चर्वण करने में चतुर चार कालियों का वर्णन आरम्भ करते हैं। इस प्रस्तुत विकास में प्रथम परप्रमातृरूप संविदीश्वरी की अवस्था प्रमातृगत सृष्टिचक्र में वर्णन करेंगे।

हम पूर्व कह आये हैं कि मार्तण्डकाली की अवस्था में समस्त द्वादशात्मक इन्द्रियों रूपी सूर्य–समूह अहंकार नाम वाले परमादित्य स्वरूप में पूर्णरूप से विलीन हो जाता है। इसके पश्चात् अहंकार नामी तेरहवां परमादित्य भी प्रमातृभाव की ओर संपूर्णरूप से सन्मुख बनता हुआ ही उसी प्रमातृसंवित् के साथ तदाकार बन जाता है। इस भांति पारमेश्वरी संवित् अहंकार नाम वाले परमादित्य को भी अपनी मितप्रमातृसंवित्ति में विलीन करने के हेतु भगवती ''परमार्ककाली,, के स्वरूप को उल्लसित करती है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रस्तुत विकास में जो ज्वलन्त परिमितप्रमातृदशा वर्णित हुई है (जिस का अन्य नाम परमार्ककाली भी है) पाठक–गण कहीं भूल से इस अवस्था को विषयोपाधि–परिच्छिन्न संसारदशावर्ती सर्वजनसाधारण परिमितप्रतातृदशा न मान बैठें। यह ठीक है कि इस अवस्था में भी पशुभाव अंशांशिकारूप से अवस्थित है ही, किन्तु फिर भी इस परिमितप्रतातृदशा में और जीवगत परिमितप्रमातृदशा में आकाश–पाताल का अन्तर अवस्थित है। इस प्रस्तुत परिमितप्रमातृदशा में संस्कारमात्र से भी विषय और इन्द्रियों की उपाधि विद्यमान नहीं है। केवल इन्द्रियों की उपाधि से रहित

प्रमातृप्रकाश ही निर्विकल्परूपतया प्रकाशमान बना हुआ है।

इसी अभिप्राय को समक्ष रख कर आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने भी इस कोटि की परिमितप्रमातृसंवित्ति को कालाग्निरुद्र कह कर वर्णित किया है। आचार्यपाद ने तंत्रालोक में कालाग्निरुद्र—दशा का वर्णन इस निम्न श्लोक में किया है:—

"कालाग्निरुद्रसंज्ञास्य शास्त्रेषु परिभाषिता
कालोव्यवच्छित्तद्युक्तो वह्निर्भोक्ता यतः स्मृतः।
संसाराकुप्तिकुप्तिभ्यां रोधनाद्द्रावणात्प्रभुः
अनिवृत्तपशूभावस्तत्राहंकृत्प्रलीयते ॥,,

आचार्यपाद कहते हैं कि शास्त्रों में इस प्रमाता का नाम 'कालाग्निरुद्र, रखा है। कारण यह है कि वर्त्तमान भूत इत्यादि काल के व्यवच्छेद (परिमितता से) से युक्त यह प्रमाता अग्नि यानी भोक्ता माना गया है। संसार की सृष्टि तथा संहृति करने के हेतु यह प्रमाता रोधन और द्रावण करने वाला रुद्र माना गया है। सर्वसमर्थ होने के कारण यह प्रभु है। इतना होते हुए भी यह पशुभाव से सर्वथा निवृत्त नहीं हुआ है। इसी कालाग्निरुद्र नामी प्रमातृ—संवित्ति में अहंकार रूपी परमादित्य लय हो जाता है।।

अस्तु; क्रमस्तोत्र में भी इसी आशय से इस संवित्ति की स्तुति परमादित्य—काली के नाम से की है। वहाँ का श्लोक है—

''अस्तोदितद्वादशभानुभाजि
यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति

तां नौम्यानन्तां परमार्ककालीम्।। ९।।

यस्याम् अस्तोदितद्वादशभानु-
भाजि प्रशान्त-धाम्नि भर्गशिखा
द्युति-नाशम् एति, एवं शिखा इव गता,
ताम् अनन्तां परमार्ककालीं (अहं)
नौमि-इति सम्बन्धः।। ९ ।।

अर्थात् जो प्रमातृसंविदीश्वरी परादेवी प्रमाणप्रमेयक्षोभशून्य होने के कारण संपूर्ण रूप से शान्त बनी है। जो अस्त और उदय करने वाले बारह इन्द्रियों रूपी आदित्यों को अपने स्वरूप में लयीभूत करके उनका चमत्कार लेती है, तथा जिस परम–तेज में भर्गशिखा रूपी अहंकार नामी परम–आदित्य अपने तेज को समाप्त करके उसी में समा जाता है, उसी अनन्त दीप्ति की भण्डार बनी हुई परमार्ककाली देवी की मैं स्तुति करता हूँ; अर्थात् अपनी देहादिप्रमातृता को उसी में लयीभूत करके उस के ही स्वरूप में समावेश करता हूँ।।९।।

आज श्रीकाली भगवती के नौवें विकास में प्रकाशमान बनी हुई प्रमातृगत सृष्टि–दशा का निर्णय सहज मे ही समाप्त हुआ।

।। ओम्।।

कालाग्निरुद्रकाली

दसवां विकास

जगदीश्वरी के इस दसवें विकास में प्रमातृगत स्थितिदशा की व्याख्या है।

जिस समय कालाग्निरुद्र नामक कल्पित प्रमाता बारह इन्द्रियरूपी आदित्यों को, तथा अहंकार नाम वाले परमादित्य को भी अपने ही तेज में कवलन यानी लय करता है, उसी समय वह प्रमाता अपने स्वातंत्र्य से ही अपनी परिमितता को भी अहन्तात्मक अपरिमितता में प्रवेश करने लगता है। इस भांति कालाग्निरुद्ररूप वह कल्पित प्रमाता विश्वाभेदैकशोभित अनन्तविकास से युक्त परप्रमातृरूपी पूर्णाहन्ताविमर्शघन बनी हुई महाकाली में ही सदा के लिये विलीन हो जाता है। अतः यही अवस्था जगदम्बाकालिका भगवती का परमपूज्य स्थान माना गया है। कहा भी है–

"भैरवरूपी कालः
सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम्।
इच्छावशेन, यस्याः
सा त्वं भुवनाम्बिके जयसि।।

अर्थात् जिस पारमेश्वरी संवित् शक्ति की अनर्गल इच्छा से ही परभैरवेश्वर कालदेव ब्रह्मा से लेकर कीड़े तक समस्त जगत् की रचना करता है; वही आप जगदम्बा जयनशील हों। अभिप्राय यह है कि परप्रमातृरूपी तेज–स्थान पर पहुँच कर योगी पंचकृत्यकारित्वपद को

प्राप्त करता है। भाव यह है कि जिस भांति परमशिव स्वभावत: ही पञ्चकृत्य करने में रसिक बना हुआ रहता है, उसी भांति इस अवस्था को प्राप्त हुआ योगी भी पञ्चकृत्य करने में तत्पर बना रहता है। अस्तु, पूछा जा सकता है कि इसे कालाग्निरुद्रकाली का नाम–करण क्यों कर दिया गया है। इस का उत्तर यही है कि इस कोटि में आकर कालाग्निरुद्र नामवाला मितप्रमाता भी पर प्रमातृसंवित्ति में ही लय हो जाता है। इसी अभिप्राय से क्रमस्तोत्र शास्त्र के नीचे दिये गये श्लोक में भी इस अवस्था की स्तुति कालाग्निरुद्रकाली के नाम से ही की गई है:–

''कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र–
क्रोड़ीकृतान्ताग्निकलाप उग्र:।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कालानलरुद्रकालीम्॥१०॥

कालक्रम-आक्रान्त-दिनेशचक्र-क्रोड़ी-
कृत–अन्ताग्निकलाप: उग्र: कालाग्निरुद्र:
यस्यां लयमेति तां कालानलरुद्रकालीं नौमि॥

कालाग्निरुद्र नाम वाली जिस कल्पित प्रमातृरूपा संवित्ति ने व्यवच्छेद करने वाले काल के सृष्टि आदि पांच कृत्यों से आक्रान्त बने हुए बारह आदित्यरूपी प्रमाणमण्डल को अपनी ही स्वात्माग्नि में संहृत किया है। अतएव इस समस्त प्रमाणर्कमण्डल को अपने में विलीन करने से जो भयंकर तेज राशि से युक्त बनी हुई है, वही मितप्रमातृरूपा कालीदेवी भी जिस पराकाली में लयीभूत होती है, उस परम–तेज–संपन्न

कालाग्निरुद्रनामक प्रमाता का भी विनाश करने वाली देवी कालाग्निरुद्रकाली की मैं स्तुति करता हूँ—अर्थात् देह, प्राण पुर्यष्टक आदि अनात्मवर्ग में ठहरी हुई अहन्ता को उसी परमतेज में तत्सात् करता हूँ।।

इस प्रकार पराभगवती के दशवें विकास में प्रमातृगत स्थितिरूपता का निर्णय भी समाप्त हुआ।

।। ओम्।।

महाकालकाली

ग्यारहवां विकास

प्रस्तुत विकास में पराकाली देवी का स्वरूप प्रमातृपद के संहारचक्र में विवेचन किया जाता है। दसवें विकास में वर्णित परप्रमातृरूप स्वात्मसंविति में सब ओर से देदीप्यमान तथा पूर्णाहन्तात्मक चमत्कृति से युक्त बनी हुई व्यापिनी पारमेश्वरी ही सर्वसर्वरूपता से ही प्रकाशमान है। इस अवस्था में पदार्पण करने पर योगी अलंग्रासभैरवात्मक स्थिति का अनुभव स्वयं ही करने लगता है। इस अवस्था में समस्त भाववर्ग का निःसंस्काररूप से प्रशमन हो जाता है। अतः फल यह होता है कि स्वात्मसंविति सर्वतः परिपूर्ण बनी हुई दृष्टिगोचर होने लगती है। पर इस परप्रमातृदशा में ठहरी हुई महाकाली भगवती भी अपने स्वभावभूत अकुलधाम में प्रविष्ट होने के लिये लालायित रहती है। इस प्रकार यह परादेवी अपने ग्यारहवें विकास को जन्म देती है। इस अवस्था की प्राप्ति पर योगी काल–कलना का उल्लंघन करता हुआ –''समना,, नाम वाले स्थान पर आरूढ़ हो जाता है, तथा इस भांति सदा के लिए अकालकलित बन जाता है।

इस समना दशा में आकर काल साम्य–अवस्था में ठहरता है; यानी यहाँ आकर काल अपनी सत्ता पूर्णरूप से खो बैठता है। अभिप्राय यह है कि इस दशा की प्राप्ति पर योगी को अनन्त काल भी क्षण–तुल्य प्रतीत होता है। इस समनारूपी पदवी को समक्ष रख कर ही आचार्य उत्पलदेव जी महाराज ने भी अपने स्तोत्र में कहा है–

''न सदा न तदा न चैकदे-

त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।

तदिदं भवदीयदर्शनं

न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ।।,,

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि हे प्रभो! (जिस अवस्था में) न सदा होने वाली, न उस विशेष समय पर होने वाली, और न युगपद्रूप से होने वाली–इस प्रकार के काल को रचने वाली बुद्धि विद्यमान नहीं है। वही आप से स्वरूप का यथार्थ दर्शन है, जिसे न तो नित्य ही कह सकते हैं और न अनित्य ही कहा जा सकता है।

इसी अभिप्राय से क्रमस्तोत्र में भी इस अवस्था को कालकलनाशून्य होने के कारण महाकालकाली के नाम से विभूषित किया है। क्रमस्तोत्र का निम्नश्लोक इसी काली भगवती का परिचायक है:–

''नक्तं महाभूतलये श्मशाने

दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम्

कालीं महाकालमलं ग्रसन्तीं

वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम्।। ११ ।।

महाभूतलये श्मशाने नक्तं

दिक्खेचरीचक्र–गणेन साकम्

महाकालम् अलं ग्रसन्तीम् अनिल

अनलाभाम् अचिन्त्यां कालीम्

वन्दे –इति संबन्धः।। ११ ।।

भाव यह है कि भेदप्रथारूपी–बाह्यप्रकाशशून्य महारात्रि में, जहाँ

पञ्च महाभूत भी पूर्णरूप से विलीन हो गये हैं, यानी जिस अवस्था में देहप्रमातृता, प्राणप्रमातृता, पुर्यष्टकप्रमातृता और शून्यप्रमातृता सर्वभाव से संहृत हुए हैं– इस प्रकार के अन्त: प्रकाशपूर्ण हृदयरूपी श्मशान में ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के स्थान में विराजती हुई जो चिन्महेश्वरी देवी बाह्यादिरूप खेचरी शक्तियों सहित परप्रमातृरूप महाकाल को भी सर्वभाव से निगलती है अर्थात् स्वात्मसात् करती है, एवं इस रीति से जो वायु और अग्नि के तुल्य बनी हुई देदीप्यमान अचिन्त्यहिमा से युक्त तथा महाकाल को भी ग्रास करने के फलस्वरूप महाकालकाली नाम वाली भगवती है, उसी को मैं प्रणाम करता हूँ यानी उसी के अचिन्त्य स्वरूप में समावेश करता हूँ।

आज जगज्जननी की अनुकम्पा से प्रमातृपदान्तर्गत संहार चक्र में स्थित पराभगवती के ग्यारहवें विकास का निर्णय समाप्त हुआ।

।। ओम्।।

महा-भैरव-घोर-चण्डकाली

बारहवां विकास

चिच्चमत्कृतिमयी काली देवी के इस अन्तिम विकास में प्रमातृवर्ग में स्थित अनाख्यचक्र की सर्वोच्च अवस्था का वर्णन किया जाता है।

परप्रमातृरूप काली देवी की जिस अवस्था का वर्णन हम ने गतविकास में किया है; वही अवस्था इस अनाख्यधाम में आकर स्फुटतमता को प्राप्त करके सम्यग् रूप से प्रतिफलित होती है, यानी अपने पूर्ण विकास को प्राप्त करती है। इस दशा में स्फारीभूत बनी हुई यह परप्रमातृरूपा चमत्कृति पूर्ववर्णित सम्पूर्ण अवस्थाओं को जन्म देती है। एवं उनको अपने स्वरूप में स्वात्मसात् करने के हेतु–उनकी आश्रयस्थान भी बनी हुई है। इतना ही नहीं, अपितु यहाँ आकर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तथा उनकी सृष्टि आदि चक्रमण्डलवर्ती देवियां उदय भी करती है और अस्त भी हो जाती हैं। इन सभी अवस्थाओं को उदय करने के समय यही परप्रमातृरूपा परादेवी पूर्णरूपा कही जाती है, तथा पुनः इन पूर्ववर्णित अवस्थाओं को अपने में समा लेने पर यही दुर्घटसंपादनात्मिका महेश्वरी कृशरूपा मानी गई है। क्योकि इस अनाख्य–चक्र की कोटि पर पहुँच कर इस में केवलमात्र कालसंकर्षिणी कला ही विद्यमान रहती है। इसी श्रीकालसंकर्षिणी धाम की ओर संकेत करते हुए श्री अभिनवगुप्ताचार्यपाद ने भी तन्त्रालोक में कहा है:–

“इत्थं द्वादशधा संवित्तिष्ठन्ती विश्वमातृषु
एकैवेति न कोऽप्यस्याः क्रमस्य नियमः क्वचित्।
क्रमाभवान्न युगपत्तदभावात्क्रमोऽपि न

क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम्॥,,

आशय यह है कि परप्रमातृरूप से युक्त बारह स्वरूपों वाली संविद्देवी विश्वमातृगण में, यानी प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयरूप चक्रों में ठहरी हुई भी वस्तुतः एक ही स्वरूप से युक्त है। इस पारमेश्वरी देवी का वास्तव में किसी भी स्थान या अवस्था में कोई क्रम नहीं है। किन्तु यह भी नहीं कह सकते कि क्रम के अभाव होने के कारण इस स्थान में अक्रमता यानी युगपद्भाव है, इसमें युगपद्भाव भी नहीं है। तत्त्वदृष्टि से तो संविद्देवी का यह सुनिर्मल उत्तमोत्तम स्थान क्रम एवं अक्रमकथा की वार्ता से दूर बहुत दूर स्थित है। यानी इस क्रमाक्रमरूपता को उल्लंघित करके ही यह भगवती कालीदेवी का सर्वोत्तम स्थान देदीप्यमान बना हुआ है।

अस्तु, यहाँ यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि इस काली देवी का नाम ''महाभैरव-घोर-चण्ड-काली'' किस अभिप्राय से रखा गया है। इस का समीचीन उत्तर यही है कि यह प्रमाता, प्रमाण, एवं प्रमेयगत चक्रों में ओतप्रोततया प्रकाशित बनी हुई है। तथा इन्हें अपने स्वरूप में लय भी करती है और इन्हें अपने स्वरूप में प्रकाशित भी करती है। इसी अभिप्राय को जलताने के लिये क्रमस्तोत्र के श्लोक में भी इस कालिका भगवती के ''चण्ड, घोर और महाभैरव''-ये तीन विशेषण अति आदर से प्रयुक्त किये गये हैं। चण्ड पद से प्रमेयचक्र, घोरशब्द से प्रमाणचक्र और महाभैरवशब्द से प्रमातृचक्र की ओर संकेत किया गया है। इत्यतः प्रमेयचक्र, प्रमाणचक्र तथा प्रतातृचक्र का कवलन यानी महाग्रास करने से इस परा अनाख्यरूपा काली भगवती को महाभैरवघोरचण्डकाली के नाम से अलंकृत किया गया है। क्रमस्तोत्र के निम्नलिखित श्लोक में इस महाभैरवी भी स्तुति की है :—

"क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्र-
सञ्चारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्ड-
कालीं कलाकाशशशाङ्ककान्तिम्।।
।।१२।।

'क्रमत्रय-त्वाष्ट्र-मरीचिचक्र-
सञ्चार-चातुर्य-तुरीय-सत्ताम् कला-
आकाश-शशाङ्क-कान्तिं महा-
भैरव-घोर-चण्ड-कालीम् (अहं)
वन्दे,,- इत्यन्वयः ।।१२।।

इस श्लोक का भाव यह है कि प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता नामी इन तीन क्रमों से देदीप्यमान बने हुए सूर्यसंबन्धि द्वादशमरीचिमण्डल में सञ्चार अर्थात् विश्वविकासात्मक स्फुरत्ता की पाटवता से जो परप्रमातृरूपा संविच्चक्रेश्वरी अनाख्यरूप तुरीय–सत्ता के रूप को धारण किये हुए है, तथा जिस की कालसंकर्षिणी रूपी अमाकला सर्वतः प्रभायुक्त होने से आकाश में स्थित चन्द्रमा की दीप्ति की नाई उसी चिदाकाश में चमकती है। उसी सर्वलक्षणसंपन्न महाभैरवघोरचण्डकाली भगवती की मैं वन्दना करता हूँ, अर्थात् देह–प्राण–पुर्यष्टक तथा शून्य– प्रमातृपद को उसी स्वरूप में लयीभूत करके उसी काली भगवती के अनन्त अपरिमित तथा

आनन्द–रसप्रपूर्ण स्वरूप में समावेश करता हूँ।।

आज संविद्देवी की अपार दया के फल–स्वरूप द्वादश–कालियों का यह संक्षिप्त विवरण समाप्त हुआ।। ।।

।। ओम्।।